आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः त्रयस्त्रिंशं रत्नम्

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीमान् शान्तिसूरि विरचित—

धर्मरत्न प्रकरण ।

दूसरा भाग

(पू० आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि विरचित टीकार्थ युत)

(हिन्दी अनुवाद)

संशोधक—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-

शिष्य शतावधानी – मुनि लाभसागर गणि

वीर सं. २४९३ वि. सं. २०२३ आगमोद्धारक सं. १७

प्रतयः ५००] [मूल्यम् ५=००

आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः त्रयस्त्रिंशं रत्नम्

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

पू० आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीमान् शान्तिसूरि विरचित—

धर्मरत्न प्रकरण ।

दूसरा भाग

(पू० आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि विरचित टीकार्थ युत)

(हिन्दी अनुवाद)

संशोधक—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-
शिष्य शतावधानी - मुनि लाभसागर गणि

वीर सं. २४९३ वि. सं. २०२३ आगमोद्धारक सं. १७

प्रतयः ५००] [मूल्यम् ५=००

प्रकाशकीय-निवेदन

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि० सं० २०१० की साल में कपड़वंज शहर में मीठाभाई गुलालचन्द के उपाश्रय में चातुर्मास वीराजे थे। उस वक्त विद्वान बालदीक्षित मुनिराज श्री सूर्योदयसागरजी महाराज की प्रेरणा से आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रन्थमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्य-कृपा से यह 'धर्म-रत्न-प्रकरण' का आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि रचित टीका का हिन्दी अनुवाद के दूसरा भाग को आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला के ३३ वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के तत्त्वावधान में शतावधानी श्री लाभसागरजी गणि ने किया है। उसके बदले उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

किञ्चिद्-वक्तव्य

सुज्ञ विवेकी पाठकों के समक्ष भाव-श्रावक के लक्षणों का वर्णन-स्वरूप श्री धर्मरत्न प्रकरण (हिन्दी) का यह दूसरा भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ रत्न में भाव श्रावक के क्रियागत छ और भावगत सत्रह १७ लक्षणों का सुन्दर वर्णन कथाओं के साथ किया गया है। इस चीज को लेकर बाल जीवों को यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इस चीज को लक्ष्य में रखकर आगम सम्राट् बहुश्रुत ध्यानस्थ स्वर्गत आचार्य श्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी महाराज के सदुपदेश से वि० सं० १९८३ के चातुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के प्रथम शिष्य मुनिराज श्री अमृतसागरजी महाराज के आकस्मिक काल-धर्म के कारण उन पुण्यात्मा की स्मृति निमित्त 'श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिती' की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था विशिष्ट ग्रन्थों को हिन्दी में रूपान्तरित करके बालजीवों के हितार्थ प्रस्तुत किये जाय। तदनुसार श्राद्ध-विधि (हिन्दी) एवं श्री त्रिषष्टीयदेशना संग्रह (हिन्दी) का प्रकाशन हुआ था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मुद्रण-योग्य पुस्तिका के रूप में रह गया था। उसे पूज्य गच्छाधिपति श्री की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

विवेकी आत्मा इसे विवेकी बुद्धि के साथ पढ़कर जीवन को सफल बनावें।

लि०

संशोधक

शुद्धि-पत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(चिन्ह)	(चिह्न)	१००	८	मासक्षमण	मासक्षपण
आकर्षन	आकर्णन	१११	२५	धर्म का	धन का
झोषित	झोषित	१३३	२२	पद्गलों	पुद्गलों
अर्ह:	अर्हः	१३७	९	भोम	भौम
सीयलं	सीयालं	१५६	२१	लान	लीन
दंड	दंडी	१७१	१८	पत्ता	पत्तो
होने	होने से	१८४	हेडिंग	हरिनंदी	ब्रह्मसेन सेठ
पडिसू	पडिसु	२१२	३	भाग्यहान	भाग्यहीन
उच्छ्रत	उच्छ्रित	२४६	९	मध्यम	मध्यस्थ
उक्तः	उक्त	२५६	२१	मुक्तासूक्ति	मुक्ताशुक्ति
अचित	अचित्त	२६१	८	प्रतिक्रमण	सुबह प्रतिक्रम.
अनोभोगा	अनाभोगा	२७५	८	काय	कार्य
दिक	दिक्	२७९	हेडिंग	चन्दोदर	चन्द्रोदर
दाप्तिवान	दीप्तिवान	२८७	६	केवलज्ञान	केवलज्ञानी
काश्पय	काश्यप	२८८	६	पारमार्थ	परमार्थ
शिवनन्दा	शिवानन्दा	,,	२३	जावां	जीवों
यिष्टी	यष्टी	,,	२४	वज्रायुद्ध	वज्रायुध
तद्वर्णा	तद्वर्णाः	२९२	२६	तीसरे	चौथे
क्रत	कृत	२९४	हेडिंग	विह्नीकता	विह्नीकता
दुर्वारि	दुर्वार	,,	८	,,	,,
पकार	प्रकार	२९७	६	खाय	खातर
निविघ्नता	निर्विघ्नता	३०२	४	कायोत्सग	कायोत्सर्ग
स्पर्शेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय	३०३	६	शर	शूर
थनवान	धनवान	३०३	९	मुनिश्वर	मुनीश्वर
उज्जवल	उज्ज्वल	३०६	३	पौषधा	पौषध

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ
ऋजु व्यवहार के चार प्रकार	१३५
१ यथार्थभाषण	१३५
कमल सेठ का दृष्टांत	१३६
२ अवंचक क्रिया	१४३
हरिनन्दी की कथा	१४४
३ भावि अपाय प्रकाशन	१४७
भद्रसेठ का दृष्टांत	१४७
४ सद्भाव से मित्रता	१५०
सुमित्र का दृष्टांत	१५०
ऋजुव्यवहार नहीं रखने में दोष	१५६
गुरुशुश्रूषा का चार प्रकार	१५७
१ गुरु-सेवा करना	१५८
जीर्ण सेठ की कथा	१५८
२ गुरु-सेवा कराना	१६१
पद्मशेखर राजा की कथा	१६१
३ औषध-भेषज संप्रदान	१६५
अभयघोष का दृष्टांत	१६६
४ भाव-बहुमान	१६८
संप्रति राजा की कथा	१६८
६ प्रवचन कुशल के छः भेद	१७१
१ सूत्र कुशल	१७२
जिनदास का दृष्टांत	१७२
२ अर्थ कुशल	१७४
ऋषिभद्र का दृष्टांत	१७५
३|४ उत्सर्गोऽपवाद कुशल	१७८
अचलपुर के श्रावकों की कथा	१७८
५ विधिसारानुष्ठान	१८१
ब्रह्मसेनसेठ की कथा	१८१
६ व्यवहार कुशल	१८६
अभयकुमार की कथा	१८६
भाव श्रावक के सत्रह लक्षण	१९०
१ स्त्री-वशवर्त्ति न होना	१९२
काष्ट सेठ का दृष्टांत	१९३
२ इन्द्रिय-संयम	१९७
विजयकुमार की कथा	२००
३ अर्थ की अनर्थता	२०८
चारुदत्त का दृष्टांत	२१०
४ संसार की असारता	२१६
श्रीदत्त का दृष्टांत	२१७

आचार्य-प्रवर श्री शान्तिसूरि-विरचित

धर्म-रत्न-प्रकरण

द्वितीय भाग

कयवयकम्मो[1] तह सीलवं च[2] गुणवं च[3] उज्जुववहारी[4] ।
गुरुसुस्सूसो[5] पवयण-कुसलो[6] खलु सावगो भावे ॥३३॥

मूल का अर्थ:—भाव श्रावक के लिंग (चिन्ह) कहते हैं ।

व्रत का कर्तव्य पालन करने वाला हो, शीलवान हो, गुणवान हो, ऋजु व्यवहारी हो, गुरु की शुश्रूषा करने वाला हो, तथा प्रवचन में कुशल हो, वही भाव श्रावक कहलाता है ।

टीका का अर्थ:—व्रत सम्बन्धी आगे कहने में आने वाले कर्तव्यों का जिसने पालन किया हो वह कृतव्रतकर्म कहलाता है वैसे ही शीलवान् (इसका स्वरूप भी आगे कहा जावेगा) तथा गुणवान् याने अमुक गुणों से युक्त (इस स्थान में चकार समुच्चयार्थ है और वह भिन्नक्रम है) तथा ऋजुव्यवहारी याने सरल हृदय वाला तथा गुरु-शुश्रूष याने गुरु की सेवा करने वाला व प्रवचन कुशल याने जिनमत के तत्त्व को जानने वाला, ऐसा जो होता है वही वास्तविक भाव-श्रावक होता है यह गाथा का अक्षरार्थ है ।

भावार्थ -- स्वतः सूत्रकार कहने के इच्छुक होकर "उद्देशानुसार निर्देश" इस न्याय से प्रथम कृतव्रत कर्म का स्वरूप कहते हैं।

तत्थाऽऽयण्णण[1] जाणण[2] गिह्णण[3]-पडिसेवणेसु उज्जुत्तो।
कयवयकम्मो चउहा — भावत्थो तस्सिमो होइ ॥३४॥

मूल का अर्थः--वहां सुनना-जानना-लेना तथा पालन करने में तत्पर रहना, इस भांति कृतव्रतकर्म चार प्रकार का होता है, उसका भावार्थ इस प्रकार है।

टीका का अर्थः--उक्त छः लिंगो में कृतव्रत कर्म के चार भेद हैं, यथाः-- (व्रतों का) आकर्णन याने सुनना, ज्ञान याने समझना, ग्रहण याने स्वीकार करना और प्रति-सेवन याने उसका यथारीति पालन करना, इन चारों बातों में उद्युक्त याने उद्यमवान् हो, इन चारों प्रकार का भावार्थ अब तुरन्त ही कहा जाने वाला है।

अब भावार्थ कहने के लिये प्रथम श्रवण करना ये भेद का वर्णन करने के हेतु आधी गाथा कहते हैं।

विणय-बहुमाणसारं गीयत्थाओ करेइ वयसवणं।

मूल का अर्थः--गीतार्थ से विनय बहुमान सहित व्रत श्रवण करे।

टीकाः--विनय याने उठकर सन्मुख जाना आदि और बहुमान याने मन की प्रीति, इन दोनों से उत्तम याने प्रशस्त हो उस भांति व्रत श्रवण करे। यहां चार भेद (भंग) हैं:--

कोई धूर्त होकर वन्दना आदि कर विनय पूर्वक परिज्ञान के

हेतु सुने किन्तु बताने वाले पर बहुमान रखने वाला नहीं होता है क्योंकि वह भारी कर्म वाला होने से दूसरा बहुमान वाला होता है किन्तु शक्ति विकल होने से विनय नहीं करता है वह रोगी आदि है। तीसरा कल्याण कलाप को शीघ्र पानेवाला होने से सुदर्शन सेठ के समान विनय तथा बहुमान पूर्वक सुनता है। चौथा अतिभारी कर्मी होने से विनय और बहुमान इन दोनों से रहित होकर सुनता है ऐसे व्यक्ति को आगमानुसारी प्रवृति करने वाले गुरु ने (कुछ भी) कहना उचित नहीं।

श्री स्थानांग सूत्र में कहा भी है कि:--चार जने वाचना देने के अयोग्य है यथा अविनीत, विकृतिरसिक, अविज्ञोपित-प्राभृत व अति कषायी।

तथा (ग्रथांतर में कहा है कि) सामान्यतः भी आदेशानुसार विभाग करके जो विनीत हो उसे मधुर वाणी से ज्ञानादिक की वृद्धि करने वाला उपदेश देना।

अविनीत को कहने वाला (व्यर्थ) क्लेश पाता है और मृषा (निष्फल) बोलता है घंट बनने के लौह से कट बनाने को कौन हैरान होता है ?

अतः विनय और बहुमान पूर्वक जो व्रत श्रवण करता है वह (भाव श्रावक) किससे सुने सो कहते हैं गीतार्थ से वहां।

गीत याने सूत्र कहलाता है; और उसका जो व्याख्यान सो अर्थ। अतः जो गीत और अर्थ से संयुक्त हो वह गीतार्थ कहलाता है।

गीतार्थ के अतिरिक्त अन्य तो कभी असत्य प्ररूपणा भी कर देता है; जिससे विपरीत बोध होता है (अतः गीतार्थ से

सुनना) यहां व्रतश्रवण तो उपलक्षणरूप है उससे अन्य भी आगम आदि का श्रवण समझ लेना चाहिये यह एक व्रतकर्म है।

सुदर्शन सेठ की कथा इस प्रकार है:--

दीर्घ अक्षिवाले निर्मल रत्न से सुशोभित तथा अलक (केश) से युक्त स्त्री के मुख समान दीर्घ रथ्या (लम्बे रास्ते वाला) और अति निर्मल रत्न ऋद्धि से भरपूर होकर अलिक (खोटी) श्री (धूमधाम) से रहित राजगृह नामक नगर था। वहां द्रव्य गुण कर्म समवायवादि वैशेषिक के समान अत्यन्त द्रव्यवान, अत्यंत गुणवान, समवाय (संप) में तत्पर और श्रेष्ठ कर्म में मन रखने वाला श्रेणिक नामक राजा था। वहीं अति धनवान् अर्जुन नामक माली निवास करता था। उसको सुकुमार हाथ पांव वाली बंधुमति नामक स्त्री थी। वह अर्जुन माली प्रतिदिन नगर के बाहर स्थित अपने कुल देवता मुद्गरपाणि नामक यक्ष को उत्तम पुष्पों से पूजता था।

वहां ललिता नामक गोष्ठी (मंडली) थी वह शौकिन व धनाढ्य लोगों की थी। उस नगर में एक समय कोई महोत्सव आया। तब अर्जुनमाली ने विचार किया कि, कल फूल का मूल्य अच्छा आवेगा यह सोच वह स्त्री सहित वहां प्रातःकाल (होते ही) आ पहुँचा। वह ज्योंही हर्ष के साथ यक्ष के गृह में फूल लेकर घुसा, त्योंही उक्त घर के बाहिर स्थित गोष्ठिल पुरुषों ने उसे देखा। वे एक दूसरे को कहने लगे कि, यहां अर्जुनमाली बंधुमती सहित आता दिखता है। अतः हम ऐसा करें तो ठीक है कि, इसे बांधकर इसकी स्त्री के साथ भोगविलास करें यह बात सबने स्वीकार की।

तब वे किवाड़ के पीछे चुपचाप छिप रहे, इतने में अर्जुन-माली वहां आकर एकाग्र हो यक्ष को पूजने लगा। अब वे

एकदम निकलकर उसे बांध बंधुमति के साथ रमण करने लगे। यह देख अर्जुनमाली अति क्रोध से विवश हो विचारने लगा कि—मैं इस यक्ष को नित्य उत्तम पुष्पों से पूजता हूँ।

जो इस मूर्ति में वास्तव में कोई यक्ष होता तो मैं इस भांति पर परिभव नहीं सहता अतः निश्चय यह पत्थर ही है। तब यक्ष को अनुकंपा आने से वह उसके शरीर में प्रविष्ट हुआ, जिससे उसने बंधन को कच्चे सूत की भांति तड़ से तोड़ डाला। पश्चात् सहस्र पल याने वर्तमान तौल से अनुमान अढ़ाई मन का लोहे का मुद्गर अपने हाथ में लेकर उसने अपनी स्त्री सहित छः पुरुषों को एक ही झपाटे में मार डाला। इस भांति नित्य वह अर्जुन माली छः पुरुष व एक स्त्री मिलकर सात हत्याएँ करता रहा। क्रमशः यह बात नगर में फैल गई। जिससे राजा श्रेणिक ने नगर में उद्घोषणा कराई कि—हे नगर वासियों ! जब तक अर्जुनमाली ने सात व्यक्तियों को न मार डाला हो तब तक शहर के बाहर न निकलना चाहिये। उसी समय में चरम जिनेश्वर श्री वीरप्रभु का वहां आगमन हुआ, किन्तु भय के कारण से कोई भी उनको वन्दन करने के लिये नहीं निकला। अब वहां निर्मल सम्यक्त्ववान् और अति धर्मार्थी सुदर्शन नामक सेठ था, वह जिनवाणी सुनने में रुचिवान् तथा नव तत्त्व के विचार जानने में कुशल था। वह श्री वीरप्रभु के वचनामृत का पान करने को उत्सुक होने से अपने माता पिता के पास जाकर, उनको नमन करके सम्यक् रीति से ऐसा कहने लगा—

हे माता पिता ! आज यहां वीर जिनेश्वर पधारे हैं, इसलिये उनको नमन करने तथा उनकी देशना सुनने को मैं शीघ्र ही वहां जाना चाहता हूँ।

क्योंकि इस पूर्वापर अविरुद्ध, शुद्ध सिद्धांत के तत्त्व का श्रवण आलस्यादि अनेक कारणों से अति दुर्लभ है। आगम में भी कहा है कि-आलस्य, मोह, अवज्ञा, मान, क्रोध, प्रमाद, लोभ, भय, शोक, अज्ञान, विक्षेप, कुतूहल और रमतगमत इन तेरह कारणों से दुर्लभ मनुष्य भव पाकर भी जीव हितकारी और संसार से तारने वाले धर्म का श्रवण नहीं कर सकता। (जब कि सामान्यतः भी धर्म श्रवण दुर्लभ है) तो स्वयं जिनेश्वर के मुख से निकलते हुए पैंतीस गुण सहित और संशय रूप रज को हरने में पवन समान वचनों का श्रवण दुर्लभ हो इसमें कहना ही क्या? तब माता पिता बोले कि- हे पुत्र! यहां अर्जुनमाली महाक्रुद्ध होकर नित्य प्रति सात हत्याएं करता है।

अतः हे पुत्र! तू जिन को वन्दन करने तथा धर्म सुनने को मत जा, अन्यथा शीघ्र ही तेरे शरीर की व्यापत्ति होगी। अतः हे वत्स! तू यहीं से श्रमण भगवान् वीर प्रभु को वन्दन कर और उनकी पूर्व श्रवण की हुई देशना स्मरण कर। तब सुदर्शन बोला कि- जब कि त्रिलोकनाथ यहां पधारे हैं, तब उनको नमन किये बिना तथा धर्म सुने बिना किस प्रकार भोजन करना उचित है? तथा श्री वीर प्रभु के वचन श्रवणरूप अमृत पान से सिंचित मेरे शरीर को विषय विष के समान मृत्यु क्या कर सकता है?

अतः जो कुछ होना हो सो होओ, यह कह आग्रह पूर्वक माता पिता की आज्ञा लेकर भगवान् को वन्दन करने को निकला। उसको देखकर अर्जुनमाली मुद्गर घुमाता हुआ दौड़ा वह ऐसा दिखने लगा मानो कुपित हुआ काल आता हो। तब निर्भय रह वस्त्र के छोर द्वारा भूमि प्रमार्जन कर जिनेन्द्र को वन्दन कर व्रत का उच्चारण करने लगा। जगत् के जीवों को शरण करने योग्य अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली-भाषित धर्म मुझे शरण हो।

सकल जंतुओं को त्राण करने में समर्थ है प्रताप गुण जिनका और तीनों जगत् के लोगों ने नमन किया है चरणों को जिनके, ऐसे वीर प्रभु ही मेरे आधार हैं। यह कहकर वह सागारी अनशन करके सर्व जीवों को खमाने लगा। उसने अपने दुष्कृतों की निन्दा की तथा समस्त सुकृतों की अनुमोदना की। उसने चिन्तवन किया कि, जो मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो जाऊंगा तो कायोत्सर्ग पारूंगा यह सोच व कायोत्सर्ग कर नवकार का ध्यान करने लगा। अब यक्ष मुद्गर को उछालता हुआ उस पर आक्रमण करने में असमर्थ होकर, शान्त हो, निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता हुआ क्षणभर वहां स्तंभित हो गया। पश्चात् वह यक्ष अपना मुद्गर ले उसके शरीर में से निकलकर अपने स्थान को चला गया, तब कटे हुए वृक्ष के समान अर्जुनमाली भूमि पर गिर पड़ा। तब उपसर्ग दूर हुआ जानकर सुदर्शन सेठ ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया इतने में अर्जुन-माली को भी चेत हुआ, तो वह सुदर्शन सेठ से इस भांति कहने लगा। तू कौन है ? और कहां जाता है ? तब सुदर्शन सेठ बोला कि-मैं श्रावक हूँ और वीर प्रभु को नमन करने तथा धर्म कथा सुनने को जा रहा हूँ। तब अर्जुनमाली बोला कि- हे सेठ ! तेरे साथ चलकर मैं भी उक्त जिन को नमन करना तथा धर्म सुनना चाहता हूँ।

हे भद्र ! जिन वंदन और धर्म कथा का श्रवण करना यही इस मनुष्य जन्म का उत्तम फल है। यह कह उसे संग ले सुदर्शन सेठ ने समोसरण में आ पांच अभिगम पूर्वक प्रयत होकर जिनेश्वर को वन्दना की। वह हर्षाश्रु से परिपूर्ण-नेत्र तथा विकसित-मुख हो, हाथ जोड़, शुद्ध अन्तः करण से भक्ति व बहुमान पूर्वक इस प्रकार प्रभु की देशना सुनने लगा। यथा-

हे भव्यों ! तुम ने किसी प्रकार मनुष्य भव पाया है अतः सकल दुःखनाशक तथा सकल सुखकारक जिन प्रवचन सुनने को तत्पर होओ ।

जओ सुच्चा जाणइ कल्लाणं-सुच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंपि जाणइ सुच्चा जं छेयं तं समायरे ॥४७॥

अहंःसंहति भूधरे कुलिशति क्रोधानले नीरति,
स्फूर्जज्जाड्यतमोभरे मिहिरति श्रेयोद्रुमे मेघति ।
माद्यन्मोहसमुद्रशोपणविधौ कुंभोद्भवत्यन्वहं,
सम्यग् धर्मविचार सारवचनस्याऽऽकर्णनं देहिनां ॥

कहा भी है किः—सुनने से कल्याण जान सकता है—सुनने से पाप जान सकता है, ये दोनों सुनने से जाने पश्चात् जो भला जान पड़े उसे आचरे ।

सम्यग् धर्म के विचार वाले वचन का सुनना प्राणियों के पाप समूह रूप पर्वत को विदारण करने में वज्र समान है, क्रोध रूप अग्नि का शमन करने में पानी समान है, प्रसरित अज्ञान रूप अंधकार को दूर करने में सूर्य समान है, कल्याण रूप झाड़ को सींचने में मेघ समान है, और उछलते मोह रूप समुद्र को शोषण करने में सदैव अगस्ति ऋषि के समान है ।

वहां धर्म के दो भेद हैं:— सर्वथा व देश से । सर्वथा धर्म सो पंच महाव्रत है, और देश से धर्म सो द्वादश व्रत है । यह सुन सेठ संतुष्ट हो जिनेन्द्र के चरण कमलों को नमन कर अपने को कृतकृत्य मानता हुआ घर आया । अब अर्जुनमाली ने वैराग्य पाकर जिनेश्वर के पास छठ व अठम तप करने की प्रतिज्ञा पूर्वक दीक्षा ग्रहण की । वहां वह आक्रोश, ताड़न आदि सहकर ः मास तक व्रत पालन कर व पन्द्रह दिन की संलेखना करके

कर्मक्षय कर मोक्ष को गया। सुदर्शन सेठ भी चिरकाल सम्यक्त्व की प्रभावना करता हुआ व्रत पालन करके (स्वर्ग को गया) सुख का भाजन हुआ। इस प्रकार आगम सुनने में रसिक बने हुए सुदर्शन ने श्रेष्ठ फल पाया अतः हे भव्यजनो तुम भी धर्मद्रुम की वाडी रूप धर्म श्रुति में यत्नवान बनो।

इस भांति सुदर्शन सेठ की कथा है

भगयभेयइयारे—वयाण सम्मं वियारेइ ॥ ३५

अब दूसरा लिंग कहते हैं:—

व्रत क्रिया में आकर्णन रूप प्रथम भेद कहा अब जानना नामक दूसरे भेद का वर्णन करने के लिये गाथा का उत्तरार्ध कहते हैं।

मूल का अर्थः—व्रतों के भंग, भेद और अतिचार भली भांति विचारे।

टीका का अर्थः—व्रत याने अणुव्रत, जिनका कि स्वरूप इसी गाथार्ध में भेद व अतिचार के प्रस्ताव में कहने में आने वाला है, उनके भंग "दुविहं तिविहेणं" आदि अनेक प्रकार उनको सम्यक् याने शास्त्रोक्त विधि से जाने याने समझे।

यथाः—यहां भंग इस प्रकार है-छः भंगी, नवभंगी, इक्कीस-भंगी, ऊनपचास भंगी और एकसौ सैंतालीस भंगी।

वहां छः भंगी इस प्रकार है:—

द्विविध त्रिविध प्रथम भंग, द्विविध द्विविध दूसरा भंग, द्विविध इकविध तीसरा भंग, इकविध त्रिविध चौथा भंग, इकविध त्रिविध पांचवा भंग, इकविध इकविध छठा भंग।

इनकी स्थापना इस प्रकार है:—

२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१

इन छ भंगों ही में त्रिविध त्रिविध, द्विविध त्रिविध और त्रिविध एक विध रूप अनुमति प्रत्याख्यान के तीन भंगों सहित नव भंग होते हैं।

वहां यह गाथा है:—

तिन्नि तिया तिन्नि दुया–तिन्निक्किका य हुंति जोगेसु।
तिदु इक्क तिदुइक्कं–तिदुइक्क चेव करणाइं ॥ १ ॥

योग के तीन त्रिक, तीन द्विक और तीन ऐकिक होते हैं और करण में तीन दो एक, तीन दो एक और तीन दो एक आते हैं: (स्थापना उपरोक्तानुसार जानो)

एक एक व्रत के भंग कहे. द्विकादि व्रत संयोग के प्रकार से तो अनेक प्रकार होते हैं।

उनको लाने के लिए उपाय की गाथा इस प्रकार है—

एगवए छब्भंगा[1]-नवे[2] गवीसे[3] गुवन्न[4] सीयलं[5] ।
एगहिय छाइ गुणिया - छाइजुया वयसमा भंगा ॥ १ ॥

एक व्रत में छः, नव, इकवीस, उनपचास और एकसौ सैंतालीस भंग होते हैं. उनको एकाधिक छः आदि से याने ७-१०-२२-५० व १४८ से गुणा करके उनमें छः आदि संख्या जोड़ना. इस प्रकार जितने व्रत हैं उतनी वार करने से भंग तैयार होते हैं।

इस गाथा की अक्षर योजना इस प्रकार है—

एक व्रत में याने प्राणातिपातादिक में के किसी भी एक व्रत में ६, ९, २१, ४९ व १४७ भंग होते हैं। अव उनमें अन्य व्रतादि संयोग करने से वे ही छः आदि भंग एकाधिक छः आदि से याने ७, १०, २२, ५०, १४८ से गुणा करना. पश्चात् उनमें छः आदि याने ६, ९, २१, ४९ व १४७ जोड़ना. उससे क्या होता है सो कहते हैं– ऐसा करने से निश्चित किये हुए द्वितीयादि व्रत की संख्या जितनी वार गुणा करने से भंग हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है – यहां प्रथम व्रत की छः भंगी में छः भंग हैं तो वे ही दो व्रत के संयोग में ७ से गुणा करते ४२ होते हैं उनमें छः जोड़ते ४८ होते हैं।

तो अन्त में ग्यारहवीं वार द्वादश व्रत के संयोग के भंग १३८४१२८७२०० होंगे।

तेरस कोडिसयाइं–चुलसी कोडीउ, वारस य लक्खा।
सगसीइ सहस दो सय – सव्वग्गं छक्कभंगीए॥ १ ॥

तेरह सौ शतकोटि (अरब), चौरासी करोड़, बारह लाख, सित्यासी हजार, दो सौ। इतने सब मिलकर छः भंगी के भंग होते हैं।

नवभंगी में पहिले व्रत में नव भंग हैं, उससे द्विकादि व्रत संयोग में उस संख्या को दश से गुणा करके, नव जोड़ने के क्रम से चले जाना, तो ग्यारहवीं बार बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या नीचे लिखे अनुसार होती है:—

(९९९९९९९९९९९९)

इकवीस भंगों में प्रथम व्रत में २१ भंग हैं, जिससे द्विकादि व्रत संयोग में बावीस से गुणा कर, इकवीस जोड़ते जाना तो ग्यारहवीं बार बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या।

१२८५१००२६३१०४९२१५

उनपचास भंगों में प्रथम व्रत में ४९ भंग हैं जिससे द्विकादि व्रत संयोग में पचास से गुणा करके ४९ जोड़ते, ग्यारहवीं वार बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या।

२४४१४०६२४९९९९९९९९९९९९

१४७ भंगों में प्रथम व्रत में १४७ भंग हैं, जिससे द्विकादि व्रत संयोग में १४८ से गुणा कर १४७ जोड़ने से ग्यारहवीं वार बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या नीचे लिखे अनुसार होती है–
१,१०,४४,३४,६०,७०,१९,६१,१५,३३,३५,६९,५७,६९५

ये भंग अक्षर संचारण से अपनी बुद्धि द्वारा जान लेने चाहिये इस प्रकार अनेक प्रकार से व्रतों के भंगों को जानें तथा व्रतों के भेद याने सापेक्ष – निरपेक्ष आदि प्रकार तथा वध-बंधादिक अतिचारों को जानें।

यह आशय है— यहां श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत हैं। वहाँ अणु याने लघु व्रत सो अणुव्रत अथवा अणु याने गुणों की अपेक्षा से यति से लघु श्रावक के व्रत सो अणुव्रत — अथवा देशना के समय महाव्रतों की प्ररूपणा के पश्चात् प्ररूपण किये जाने वाले व्रत सो अणुव्रत. क्योंकि प्रथम श्रवण करने वाले को महाव्रत कहे जाते हैं. तदनंतर वह स्वीकार न कर सके तो फिर अणुव्रत कहे जाते हैं।

क्योंकि कहा है कि:—यति धर्म ग्रहण करने में असमर्थ को साधु ने अणुव्रत की देशना तो भी देना चाहिये।

वे अणुव्रत पांच है—' स्थूल प्राणातिपात विरमण ' आदि उसमें जिनको अन्य तीर्थ वाले भी प्रायः प्राणित्व से स्वीकार करते हैं, वे द्वींद्रियादिक स्थूल हैं वे उश्वास आदि प्राण के योग से प्राण रूप में बोलते स्थूल प्राण कहलाते हैं उनके योग से वे ही कहे जा सकते हैं जैसे कि– दंड के योग से पुरुष को भी दंड कहा जा सकता है उक्त स्थूल प्राणों का अतिपात याने वध अर्थात् हिंसा, उससे विरमण याने संकल्पाश्रयी प्रत्याख्यान सो प्रथम अणुव्रत है।

प्रत्याख्यान आवश्यकचूर्णि में इस प्रकार कहा है:—

स्थूल प्राणातिपात को संकल्प से छोड़ता हूँ जीवन पर्यन्त द्विविध त्रिविध भंग से याने कि मन, वचन व काया से उसको न करूं, न कराऊं। हे पूज्य ! उस विषय की भूल से प्रतिक्रमण

करता हूँ, निंदा करता हूँ, तिरस्कार करता हूँ और वैसे परिणाम को दूर करता हूं।

यहां संकल्प से याने मारने की बुद्धि का आश्रय लेकर प्रत्याख्यान है, न कि आरंभ से भी क्योंकि गृहस्थ से आरंभ नहीं रुक सकता है।

उक्त व्रत वाले ने ऐसे पांच अतिचार से दूर रहना चाहिये, वे ये हैं:—बंध, वध, छविच्छेद, अति भारारोपण और भक्तपान व्यवच्छेद, उसमें बंध याने मनुष्य व बैल आदि को रस्सी आदि से बांध रखना, वह दो प्रकार से किया जाता है स्वार्थ के हेतु व निरर्थक, वहां विवेकी ने निरर्थक बंध कभी भी न करना चाहिये।

स्वार्थ के हेतु वध भी दो प्रकार का है सापेक्ष व निरपेक्ष। उसमें जब चौपायों वा चौरादिक को आग में जल जाने का भय न रखते, निर्दयता से, मजबूती से अत्यन्त कसकर बांधा जावे वह निरपेक्ष बंध है, और जब जानवरों को इस प्रकार बांधा जावे कि आग में वे छूट सकें तथा दास, दासी, चोर अथवा पढ़ने में आलसी पुत्रादिक को वे मर न जावें ऐसा भय रखकर दया पूर्वक बांधे गये हों कि- जिससे वे शरीर हिला डुला सकें, व आग में जल न सकें उसे सापेक्ष बंध कहते हैं।

यहां जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है कि श्रावक ने ऐसे ही पशु रखना चाहिये कि- वे बिना बांधें भी वैसे ही रहें तथा उनको प्रभाव से ही वश में रखना कि- जिससे बांधे बिना ही केवल दृष्टि फिराने ही से चाकर आदि डटकर सीधे चलें कदाचित् इससे भी कोई न माने तो उपरोक्तानुसार सापेक्ष बंध करने से भी व्रत में बाधा नहीं आती, किन्तु निरपेक्षता से बांधे तो व्रतातिचार लगता है।

वध याने लकड़ी वा चाबुक से मारना यहां भी अर्थ-निरर्थक की विचारणा बंध के अनुसार करना चाहिये विशेषता यह है कि- निरपेक्ष सो निर्दय ताड़न है जबकि- धाक से भी न डरकर कोई विरूद्ध चले, तब मर्म त्याग कर दया रख करके उसे लता व रस्सी से एक दो वार मारना सापेक्ष वध कहलाता है।

छवि याने त्वचा, त्वचा के योग से शरीर को भी छवि कहा जा सकता है उसका छेद याने उस्तरे आदि से काटना सो छवि-च्छेद. यहाँ भी पूर्वानुसार भावना कर लेना चाहिये. केवल हाथ, पांव, कान, नाक तथा गल पूंछ आदि अवयवों को निर्दयता से काटना निरपेक्ष माना जाता है तथा शरीर में दर्द रूप से स्थित अरु, गांठ वा मांसांकुर आदि को सदयता से काटना सापेक्ष है।

भार याने भरना, अतिशय भार सो अतिभार, बैल आदि की पीठ पर बहुत-सा धान्य या सुपारी आदि माल लादना सो अति-भारारोपण. यहाँ पूर्वाचार्यों ने इस भांति विचारणा बताई है।

मनुष्य वा पशु के ऊपर बोझा लाद कर जो जीविका की जाती है सो श्रावक ने नहीं करना चाहिये कदाचित् करना ही पड़े तो मनुष्य से इतना भार उठवाना कि जितना वह स्वयं ही उठा ले या उतार ले. चौपाया जानवर भी जितना भार उठा सके उससे कम उस पर लादना चाहिये तथा हल व गाड़ी में से उसे योग्य समय पर छोड़ देना चाहिये।

भक्तपान याने भोजन, पानी बन्द रखना सो भक्तपान-व्यवच्छेद. यहाँ भी प्रथमानुसार अर्थानर्थ की चिंता करना चाहिये उसमें रोग निवारणार्थ सो सापेक्ष है व अपराधी को केवल वाणी ही से डराना चाहिये कि- आज तुझे खाने को नहीं दूँगा तथा शांति निमित्त उपवास कराना पड़े तो सापेक्ष जानो, किंबहुना-

संक्षेप में मतलब यह है कि जिससे प्राणातिपात विरमण रूप मूलगुण को बाधा न पहुँचे वैसा यत्न करना चाहिये।

यहां कोई यह पूछे कि- इसने तो प्राणियों की हिंसा करने ही का त्याग किया है, बंधादिक का प्रत्याख्यान तो लिया ही नहीं है अतः उसमें इसे क्या दोष है ? क्योंकि अंगीकृत त्याग अखंड रहता है अब यदि कहा जाय कि–बंध आदि का भी उसने प्रत्याख्यान किया है तो उससे उनको व्रतभंग होवेगा ही क्योंकि– विरति खंडित हो गई। अतः अतिचार कहां रहे ? तथा बंध आदि को भी जो प्रत्याख्यान में लिया जावे तो प्रस्तुत व्रत संख्या टूटेगी, क्योंकि बंध आदि पृथक् २ व्रत हो जावेगें उसका यह उत्तर है कि– मुख्यवृत्ति से तो उसने प्राणातिपात ही को प्रत्याख्यान किया है, न कि बंधादिक को, तथापि उसके प्रत्याख्यान में अर्थ द्वारा वह भी प्रत्याख्यान हुआ ही जानना चाहिये क्योंकि– वे प्राणातिपात के कारणभूत हैं।

अब जो वे भी प्रत्याख्यान हैं तो उनके करने से व्रतभंग होवे, अतिचार कैसा ?

उत्तर—ऐसा मत बोलो—क्योंकि–

व्रत दो प्रकार का है, अंतरवृत्ति से और बहिर्वृत्ति से, उसमें मारता हूँ ऐसे संकल्प से रहित होते भी कोपादिक के आवेश से दूसरे के प्राण जाते रहेंगे (वा नहीं) ? उसकी अपेक्षा याने परवाह रखे बिना बंध आदि में प्रवर्त्तित होवे, उस पर भी सामने वाले जीव का आयुष्य बलवान होने से उस जन्तु का मरण भी न हो, तथापि बांधने वाले को दया का परिणाम न होने से और विरति की परवाह न रखने से अन्तर्वृत्ति से तो व्रत का भंग ही हुआ किन्तु बहिर्वृत्ति से प्राणी का घात न होने

व्रत का पालन हुआ है अतः देश का भंजन हुआ, और देश का पालन हुआ उसी को अतिचार कहते हैं।

क्योंकि कहा है कि:—

न मारयामीति कृत व्रतस्य —
विनैव मृत्युं क इहातिचार? इत्याशंक्योत्तरमाह।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन्,
करोत्यसौ स्यान्नियमेऽनपेक्षः॥ १॥

मृत्योरभावान्नियमोस्ति तस्य कोपाद् दयाहीनतया तु भग्नः।
देशस्य भंगादनुपालनाच्च-पूज्या अतिचारमुदाहरन्ति॥ २॥

मैं मारता नहीं हूँ ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले को मरण हुए बिना कैसे अतिचार लगे? इस शंका का उत्तर कहते हैं कि-जो कोप से वधादिक करे वह व्रत में निरपेक्ष कहा जाता है सामने वाले की कदाचित् मृत्यु न हुई उससे उसका नियम कायम रहता है किन्तु कोपवश दयाहीन होने से वह भंग तो हुआ ही है। इस प्रकार देश से भंग होने से व देश से पालन होने से आचार्य इसे अतिचार कहते हैं।

और जो कहा कि-ऐसा होने से व्रत संख्या टूटती है वह भी अयुक्त है, क्योंकि हिंसादिक की जो विशुद्ध विरति कायम रहे तो वंधादिक होवें ही कैसे?

अतएव वंधादिक अतिचार ही हैं, पृथक् व्रत नहीं. वंधादिक पांच विषय लिये हैं सो उपलक्षण रूप हैं, उससे अन्य भी हिंसा जनक मंत्र तंत्रादिक को अतिचार जानना चाहिये।

इस प्रकार अतिचार सहित प्रथम व्रत कहा।

अब स्थूल मृषावाद विरमण नामक दूसरे व्रत का वर्णन करते हैं।

वहां स्थूल याने मोटा द्विपद आदि वस्तु सम्बन्धी अति दुष्ट इच्छा से किया जाने वाला मृषावाद याने असत्य भाषण सो स्थूल मृषावाद उसका विरमण, सूक्ष्म का नहीं, क्योंकि वह तो महाव्रत में आता है।

उक्त स्थूल मृषावाद पांच प्रकार का है— कन्या सम्बन्धी, गायसम्बंधी, भूमिसम्बंधी तथा न्यासापहार और कूटसाक्षित्व।

वहां निर्दोष कन्या को सदोष अथवा सदोष को निर्दोष कहने से कन्यालीक कहलाता है, कन्यालीक यह पद समस्त द्विपद संबंधी अलीक का उपलक्षण है।

इस भांति गवालीक भी समझ लेना चाहिये, यह चतुष्पद संबंधी सकल अलीक का उपलक्षण है।

कोई पूछे कि– ऐसा होते भी न्यासापहार तो अदत्तादान गिना जाता है, अतः उसे यहां लेना अनुचित है। उसका उत्तर यह है कि– उसमें अपलाप वाक्य बोलना मृषावाद है, अतः उसे यहां लेने में कुछ भी बाधा नहीं।

यहाँ भी पाँच अतिचार वर्जनीय हैं यथा–

सहसाभ्याख्यान, रहसाभ्याख्यान, स्वदारामंत्रभेद, मृषोपदेश और कूटलेखकरण. उसमें सहसा याने बिना विचारे अभ्याख्यान याने मिथ्या दोष लगाना. जैसे कि–तूं चोर है अथवा पारदारिक (व्यभिचारी) है इत्यादि।

रहसा याने एकान्त के कारण अभ्याख्यान करना याने कि:– गुप्त सलाह करते देखकर कहना कि– यह मन्त्र मैंने जान लिया है, ये अमुक राजविरुद्ध आदि की सलाह करते हैं।

यहां कोई पूछता है—भला, अभ्याख्यान याने असत् दोष लगाना तो मृषावाद ही है, अतः उनसे तो व्रत भंग ही होता है, तो उनको अतिचार कैसे मानते हो?

इसका उत्तर यह है कि– जब दूसरे को हानि करने वाला वाक्य अनाभोगादि कारण से बोल दिया जाय तब बोलने वाला असंक्लिष्ट परिणामी होने से व्रत से निरपेक्ष नहीं माना जाता. अतः इस हिसाब से वह व्रत भंग नहीं कहा जाता, वैसे ही वह दूसरे को हानि होने का हेतुरूप होने से भंग भी है, अतः अतिचार गिना जाता है; और जब तीव्र संक्लेश से अभ्याख्यान करने में आवे, तब तो व्रत के निरपेक्षपन से वह भंग ही है।

कहा है कि– सहसब्भक्खाणाई–भगंतो जइ करेज्ज तो भंगो।
जइ पुण णाभोगाई–हिंतो तो होइ अइयारो ॥ १ ॥

सहसाभ्याख्यान आदि जो जानबूझ कर किया जावे तो भंग ही है, किन्तु अजानपन से किया जावे तो अतिचार हैं।

अपनी स्त्री का मंत्र याने विश्वास रख कर कही हुई गुप्तबात-सो दूसरे को कहना वह स्वदारमंत्रभेद। दार शब्द मित्रादिक का उपलक्षण है यह बात तो जैसी सुनी हो, वैसी ही बोलते सत्य होने से यहां अतिचार नहीं मानी जाती, तथापि गुप्तबात के प्रकाश से लज्जादिक होने के कारण स्त्री आदि आत्मघात करे, ऐसा संभव होने से परमार्थ से वह असत्य है।

कहा भी है कि:—सच्चं पि तं न सच्चं जं परपीडाकरं वयणं।

जो परपीड़ाकारक वचन हो, वह सत्य होते भी सत्य नहीं मानना चाहिये। अतः कुछ भंग होने से और कुछ भंग न होने से अतिचार पन समझ लेना चाहिये।

मृषा याने असत्य—उसका उपदेश सो मृषोपदेश अर्थात् यह ऐसा व इस तरह बोल आदि असत्य बोलने की शिक्षा देना सो. यहां व्रत रखने में निरपेक्षता से अनजाने दूसरों को मृषोपदेश देते भी अतिचार पन समझ लेना चाहिये।

कूट लेख याने असत् अर्थसूचक अक्षर लिखना यहां भी मुग्ध बुद्धि होकर ऐसा विचार करे कि- मैंने तो मृषावाद ही त्याग किया है व यह तो लेख करना है इस प्रकार यहां व्रत की अपेक्षा वाला रहने से यह अतिचार गिना जाता है, अथवा अन्य रीति से अनाभोगादि कारण से अतिचारपन जानो।

इस प्रकार अतिचार सहित दूसरा अणुव्रत कहा अब स्थूल अदत्तादान विरमण नामक तीसरा व्रत कहते हैं।

वहां चोरी का कारण माना जाय ऐसा ईंधन, घास वा धान्य आदि स्थूल-- न कि कान कुचलने की सलाई-बिना दिया हुआ लेना—उससे विरमण सो स्थूलादत्तादान विरमण।

यह तीन प्रकार का है--सचित्त संबंधी, अचित सम्बंधी और मिश्र संबंधी।

यहां भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा--

स्तेनाहृत, तस्कर प्रयोग, विरुद्धराज्यगमन, कूटतुला कूट-मान करण और तत्प्रतिरूपव्यवहार।

वहां स्तेन याने चोर उनकी आहृत याने लाई हुई कुंकुम, केशर आदिवस्तु सो स्तेनाहृत ऐसी वस्तु को लोभ के दोषवश काणक्रय से याने कम कीमत में मोल लेने से चोर कहलाता है।

चौरश्चौरापको मन्त्री भेदज्ञः काणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः॥

कहा भी है कि:--चोर, चोरीकराने वाला, भेदज्ञ, काणक्रयी, अन्न देनेवाला, स्थान देने वाला इस भांति सात प्रकार से चोर कहा हुआ है।

अतः इस प्रकार चोरी करने से व्रत भंग है और मैं व्यापार ही करता हूँ-चोरी नहीं करता ऐसा अध्यवसाय होने से व्रत निरपेक्ष नहीं गिना जाता है उससे अभंग है, अतः अतिचार गिना जाता है।

तस्कर याने चोर उनको उत्साह देना सो तस्कर प्रयोग यथा-"तुम अभी निकम्मे क्यों बैठे हो? जो खाने को नहीं हो तो मैं दूं, तुम्हारे लूटे हुए माल को कोई बेचने वाला न हो तो मैं बेच दूंगा, अतः चोरी करने को जाओ" ऐसा कहकर चोरों को चोरी

में लगाना सो तस्कर प्रयोग।

यहां भी भंग की सापेक्षता तथा निरपेक्षता से अतिचार की भावना कर लेना चाहिये।

विरुद्ध याने अपने देश के स्वामी का दुश्मन उसका राज्य याने सैन्य वा देश सो विरुद्धराज्य उसमें अपने स्वामी का निषेध वचन उल्लंघन करके प्रवेश करना सो विरुद्धराज्यातिक्रम, यहां भी पर सैन्य प्रवेश सो स्वस्वामिका अननुज्ञात है, जिससे वह अदत्तादान ही माना जाता है, क्योंकि अदत्तादान का लक्षण इस प्रकार है कि-स्वामी, जीव, तीर्थंकर और गुरु उनने जो न दिया हो सो अदत्त और उसकी जो विरति सो अदत्तादान विरति।

व विरुद्धराज्य में जाने वाले को चोरी का दंड किया जाता है, उससे वह अदत्तादान होने से भंग ही है, तथापि यह तो मैं व्यापार ही करता हूँ चोरी नहीं करता, ऐसी भावना होने से वह व्रत निरपेक्ष नहीं माना जाता वैसे ही लोक में यह चोर है ऐसा नहीं कहा जाने से इसे अतिचार जानना चाहिये।

कूट तौल व कूट माप याने व्यवस्था से न्यूनाधिक तौलमाप का करना सो कूटतुला कूटमान करण, उसके समान याने उक्त कुंकुम आदि के समान कुसुम्भादि डालकर जो व्यापार करना सो तत्प्रतिरूप व्यवहार अथवा उसके समान याने वास्तविक कर्पूर के समान बनावटी कर्पूर आदि जो जो व्यापार करना सो तत्प्रतिरूप-व्यवहार है।

ये दोनों काम यद्यपि ठगाई से पर-धन लेने के रूप से व्रत भंग हैं, तथापि सेंध लगाना ही चोरी है व यह तो वणिक-कला

है। इस भांति अपनी कल्पना रहनी है, इस अपेक्षा से अतिचार रूप माना जाता है।

इस प्रकार अतिचार सहित तीसरा अणुव्रत कहा। अब परदार विरमण स्वदार संतोष रूप चौथा अणुव्रत कहते हैं:-

यहाँ पर याने अपने सिवाय पुरुष तथा मनुष्य जाति की अपेक्षा से देव, तिर्यंच—उनकी दारा याने विवाहित वा संगृहीत स्त्रियां, देवियां, तिर्यंचनियां सो परदारा उनका विरमण याने वर्जन.

यद्यपि अपरिगृहीत देवियों तथा तिर्यंचनियों का कोई संगृह करने वाला या विवाह करने वाला न होने से वे वेश्या समान ही मानी जाती हैं तथापि वे परजाति को भोगने के योग्य होने से परदारा ही समझकर वर्जनीय है।

तथा स्वदारा द्वारा संतोष—याने कि परदारा के समान वेश्या का भी वर्जन करके अपनी स्त्रियों से ही कोई संतुष्ट रहे सो स्वदार संतोष।

उपलक्षण से स्त्रियों ने अपने पति के अतिरिक्त सामान्यतः पुरुषमात्र का वर्जन करना, यह भी जान लेना चाहिये।

यहां भी पांच अतिचार वर्जनीय है यथा—

इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण और काम में तीव्राभिलाष।

इनका इस प्रकार विषय विभाग है:—

परदारवर्जक को पांच अतिचार होते हैं और स्वदारसंतोषी को तीन अतिचार होते हैं, वैसे ही स्त्री को भी तीन अथवा पांच अतिचार भंग की विकल्पना करके समझ लेना चाहिये।

वहां इत्वर याने थोड़े समय तक परिगृहीत याने किसी की रखी हुई वेश्या—उसका गमन सो परदारवर्जक को अतिचार है

क्योंकि उक्त समय तक दूसरे ने वेतन से रखी हुई होने के कारण परदारा है और मैं तो वेश्या ही का सेवन करता हूं- परस्त्री सेवन नहीं करता. इस प्रकार सेवन करने वाले की कल्पनानुसार वह वेश्या है जिससे।

अपरिगृहीत याने अनाथ स्त्री उसका गमन अतिचार है, क्योंकि-लोक में वह पर स्त्री मानी जाती है और सेवन करने वाले की कल्पना में उसका स्वामी न होने से वह परदारा नहीं है।

ये दोनों अतिचार स्वदार संतोषी को संभव नहीं क्योंकि-स्वदारा के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों का उसने त्याग किया हुआ है, अतः उसको ऐसी स्त्रियों के साथ गमन करने से तो व्रत भंग ही लगता है।

अनंग याने काम, उसको जगाने वाली क्रीड़ा यथा--ओष्ट काटना, आलिंगन करना, स्तन दाबना आदि ऐसे काम का मैंने त्याग कहां किया है, यह सोचकर पर स्त्री के साथ उनके करने से परदारावर्जक तथा स्वदार संतोषी इन दोनों को यह अतिचार लगता है।

इसी विचार से स्त्री पर पुरुष के साथ वैसे काम करे तो वह अतिचार होता है।

पर याने अपनी संतान के अतिरिक्त दूसरे। उनको कन्या देने का फल प्राप्त करने के हेतु वा स्नेह के कारण विवाह विधान कराना सो परविवाह करण। परदारवर्जक और स्वदार संतुष्ट पुरुष और स्वपति संतुष्ट स्त्री. इन तीनों को अतिचार संभव है क्योंकि-जब परदारा के साथ मैथुन न करूं और न कराऊं ऐसा अभिग्रह लिया है तब पर विवाह करते परमार्थ से मैथुन ही

कराना हुआ, अतः भंग हुआ और यह तो मैं विवाह मात्र कराता हूँ-मैथुन कहां कराता हूँ ? ऐसे विचार से व्रत की अपेक्षा रहती है अतः अतिचार हुआ।

काम में याने काम के उदय से किये जाते मैथुन में अथवा यह सूचक शब्द होने से काम भोग में, वहां शब्द और रूप को शास्त्र में काम मानते हैं और गंध, रस तथा स्पर्श को भोग मानते हैं उसमें तीव्राभिलाप याने अत्यंत अध्यवसाय यह भी तीनों को अतिचार संभव है यद्यपि अपनी स्त्री में तीव्रकामाभिलाप का स्पष्टतः प्रत्याख्यान नहीं किया, जिससे वह उनको खुला ही है, अतः उसके करने से उनको किसलिये अतिचार लगे ? तथापि वह अकरणीय है, क्योंकि-जिनवचन का ज्ञाता श्रावक अथवा श्राविका अत्यंत पापभीरु होकर ब्रह्मचर्य रखना चाहते हैं, तथापि वेद का उदय न सह सकने के कारण वे नहीं रख सकते, तब उसकी शान्ति मात्र करने के हेतु स्वदार संतोप आदि अंगीकृत करते हैं, ऐसा होने से अतीव्र अभिलापा से भी शान्ति होती हो तो फिर तीव्राभिलाप परमार्थ से त्याग किया ही समझना चाहिये, अतः वह करते और व्रत की अपेक्षा भी कायम रहते भंगाभंगरूप से वह अतिचार माना जाता है।

स्त्री को अनंगक्रीड़ादि तीन अतिचार की भावना की सो तो ठीक है, किन्तु उसको पांच अतिचार किस प्रकार संभव है ?

इसका उत्तर यह है कि-जब अपने पति को सपत्नी ने पारी के दिन परिगृहीत किया हो तब उसकी पारी का उल्लंघन करके उसको भोगने से प्रथम अतिचार लगता है, दूसरा अतिचार तो पर पुरुप को ओर अतिक्रमादिक की रीति से आकर्पित हो तब लगता है।

अतिक्रम व्यतिक्रम और अतिचार आधाकर्म के आश्रय से शास्त्रान्तर में इस प्रकार कहे हैं-

आधाकर्म की निमंत्रणा की स्वीकृति से लेकर उसके लिये कदम रखने को तैयार होने तक साधु को अतिक्रम लगता है। कदम रखने से लेकर के ग्रहण करने को तैयार होने तक व्यतिक्रम माना जाता है, ग्रहण करने से लेकर खाने को तैयार होने तक अतिचार माना जाता है, खाने लगे कि-अनाचार याने एषणा-समिति का भंग हुआ समझना चाहिये कहा है कि:—

आहाकम्मनिमंतण—पडिसूणमाणे अइक्कमो होइ।
पयभेयाइ वइक्कम—गहिए तइएयरो गिलिए॥

अर्थ:—आधाकर्म की निमंत्रणा स्वीकृत करने से अतिक्रम माना जाता है, कदम रखा कि व्यतिक्रम माना जाता है, लेने से तीसरा याने अतिचार माना जाता है और खाने से अनाचार माना जाता है।

इस प्रकार इसके अनुसार इस स्थान पर भी प्रथम तीन पदों में अतिचार विचार लेना चाहिये, क्योंकि अतिक्रम और व्यतिक्रम भी अतिचार विशेष ही है, तथा चौथे अनाचार रूप पद में विवक्षित व्रत का भंग होता है इस बात को संक्षेप में बताते हैं अतः इसी भांति स्त्री को भी पांच अतिचार विचार लेना चाहिये।

इस प्रकार अतिचार सहित चौथा अणुव्रत कहा, अब स्थूल परिग्रह विरमण रूप पांचवा व्रत कहते हैं।

कहा है कि—खित्ताइ हिरन्नाइ—धणाइ दुपयाइ कुप्पमाणकमा।
जोयण पयाण बंधण—कारण—भावेहि नो कुणइ॥

वहां स्थूल याने अपरिमित परिग्रह, उक्त स्थूल परिग्रह नव प्रकार का है:--क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद और कुप्य, इनका अपनी अवस्थानुसार विरमण सो पांचवा अणुव्रत है।

तो भी पांच अतिचार वर्जनीय है यथा--क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धन धान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम, और कुप्यप्रमाणातिक्रम।

अर्थ:--क्षेत्रादिक का, हिरण्यादिक का, धनादिक का, द्विपदादिक का तथा कुप्य का मानातिक्रम योजन, प्रदान, बंधन, कारण और भाव द्वारा न करना चाहिये।

उसमें क्षेत्र याने धान्य उत्पन्न होने की भूमि वह सेतु-केतु और उभय भेद से तीन प्रकार की है, सेतु क्षेत्र वह है जिसमें कि अरघट्टादिक (रहेट) से पाक तैयार होता है, केतु क्षेत्र वह है जिसमें आकाश के पानी से पाक होता है और उभय क्षेत्र वह है जिसमें उक्त दोनों के योग से पाक होता है।

वास्तु याने गृह, ग्राम, नगर आदि वहां गृह तीन प्रकार का है-खात, उच्छ्रत और खातोच्छ्रत, उसमें खात सो भूमिगृह (तलगृह) आदि, उच्छ्रत सो भूमि के ऊपर बांधा हुआ, और उभय सो तलगृह पर बांधा हुआ महल।

उक्त क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का योजन द्वारा याने क्षेत्रांतर के साथ मिलान करके अतिक्रम करना अतिचार माना जाता है।

वह इस प्रकार कि-मुझे एक क्षेत्र वा वास्तु रखना चाहिये ऐसे अभिग्रह वाले को उससे अधिक की अभिलाषा होने से व्रत

भंग होने के भय से प्रथम के क्षेत्र वा स्थान के समीप दूसरा लेकर प्रथम वाले के साथ मिलाने के लिये वाड़ आदि दूर करके उसमें जोड़ देने से व्रत की अपेक्षा रखने से तथा कुछ रूप से विरति को बाधा करने से अतिचार लगता है।

हिरण्य याने चांदी, सुवर्ण प्रसिद्ध है, उनके प्रमाण का प्रदान याने दूसरे को दे देने के द्वारा अतिक्रम करना सो अतिचार है जैसे कि-किसी ने चातुर्मास की सीमा बांध कर हिरण्यादिक का प्रमाण किया हो, उसको उस समय संतुष्ट हुए राजादिक से उसकी अपेक्षा अधिक प्राप्त हो जाय, तब व्रत भंग के भय से वह दूसरे को कहे कि-मेरे व्रत की अवधि पूर्ण हो जाने पर मैं ले लूंगा; तब तक तू सम्हाल यह कह वह दूसरे को दे दे, तो यहां व्रत की अपेक्षा रहने से अतिचार है।

धन चार प्रकार का है गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य, वहां गणिम याने सुपारी आदि, धरिम सो मंजिठ आदि, मेय सो घृत आदि और परिच्छेद्य सो माणिक आदि; धान्य सो जव आदि, इनके प्रमाण का बंधन द्वारा अतिक्रम करना सो अतिचार है जैसे कि-किसी को परिमाण करने के अनन्तर प्रथम किसी को दिया हुआ अथवा अन्य किसी के पास से मिले तो व्रत भंग के भय से वह दूसरे को कहे कि-चारमास के उपरान्त अथवा घर में भरा हुआ धान्य बिक जाने पर मैं ले लूंगा, तब तक तू रख, इस भांति बंधन याने ठहराव करके अथवा मूढे में भरकर वा सत्यंकार (सट्टा) करके अंगीकृत कर जब देने वाले के घर ही पर रहने दे, तब अतिचार मानना चाहिये।

जैसे कि-किसी ने एक वर्ष की सीमा बांध कर द्विपद चतुष्पद का परिमाण किया अब जो उस वर्ष के भीतर ही वे बच्चा दें तो अधिक होने से व्रत भंग होता है अतः उस भय से कुछ समय व्यतीत कर पश्चात् गर्भ ग्रहण करावे तो अतिचार होता है क्योंकि-गर्भ में भी अधिक द्विपदादिक हुए और बाहिर नहीं, ऐसा विचार करने से व्रत का भंग तथा अभंग दोनों ही विद्यमान रहते हैं।

कुप्य याने बिछौना, आसन, भाले, तलवार, बाण, कटोरे आदि सामान, उनके प्रमाण का भाव से रूप बदला कर अतिक्रम करना सो अतिचार है। जैसे कि- किसी ने दश कटोरों का मान किया. अब किसी भांति उनके अधिक होने पर व्रत भंग के भय से उनको तुड़वा कर बड़े बनवा करके दश ही विद्यमान रखे तो, संख्या पूरी रही और स्वाभाविक संख्या टूटी, जिससे अतिचार होता है।

इस प्रकार पांचों अणुव्रत कहे। ये मूल गुण कहलाते हैं। क्योंकि-वे श्रावक धर्मरूप तरु के मूल समान हैं। दिग्व्रतादिक तो उनकी सहायता के कारण होने ही से कायम किये गये हैं। अतः वे श्रावक धर्म रूप वृक्ष के शाखा-प्रशाखा रूप होने से उत्तर गुण कहलाते हैं। उत्तर रूप गुण सो उत्तर गुण अर्थात् वृद्धि के हेतु सो उत्तर गुण. गुण व्रत आदि सात हैं—

वहां प्रथम ऊपर, नीचे और तिरछी दिशा में जाने का परिमाण करने रूप दिग्व्रत कहलाता है। उसके भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा:—

उर्ध्वदिक प्रमाणातिक्रम, अधोदिक प्रमाणातिक्रम, तिर्यक्दिक प्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतर्धान।

उनमें प्रथम तीन अतिचार तो प्रसिद्ध ही हैं, केवल ऊर्ध्वादिक दिशाओं के गमन के आधार से प्रमाण का अतिक्रम सो अनाभोगादिक से अथवा अतिक्रम-व्यतिक्रमादिक से प्रवृत्त को जानना चाहिये, अन्यथा भंग ही होता है, यह सारांश है।

क्षेत्रवृद्धि की भावना इस प्रकार करना चाहिये जैसे कि-किसी ने सकल दिशाओं में प्रत्येक में सौ योजन के आगे जाने का प्रतिबंध किया, जिससे वह पूर्व दिशा में माल लेकर सौ योजन पर्यन्त गया वहां उसे जान पड़ा कि-और आगे जाने पर माल महँगा बिकेगा, तब पश्चिम में मैं नव्वे योजन ही जाऊंगा, यह मन में सोचकर वह पूर्व दिशा में दश योजन क्षेत्रवृद्धि करके एक सो दश योजन पर्यंत जावे, तो उसको व्रत के सापेक्षपन से क्षेत्रवृद्धि रूप अतिचार लगा हुआ माना जाता है।

स्मृति याने स्मरण का अंतर्ध्यान सो स्मृतत्यंतर्ध्यान जैसे कि-किसी ने पूर्व दिशा में सौ योजन पर्यंत जाने का परिमाण किया, अब जाने के समय उसे प्रमाद वश उक्त बात स्पष्टतया याद नहीं आई कि-सौ योजन का परिमाण किया हुआ है वा पचास का? अतः ऐसे उभय भाग में स्थित संशय में पचास योजन जाना चाहिये। उससे जो आगे जावे तो अतिचार लगता है और सौ से आगे जावे तो फिर भंग ही होता है।

दिग्व्रत कहा- अब उपभोग-परिभोग व्रत कहते हैं- वह दो प्रकार का है:-भोजन से और कर्म से। वहां उप याने एक बार अथवा अन्दर वपराय सो उपभोग, वह अन्न पानी आदि है। परि याने वारंवार अथवा बाहिर वपराय सो परिभोग। वह धन, वस्त्र आदि है।

कोई पूछे कि- जो यहां उपभोग परिभोग शब्द से हिरण्य

आदि लें, तो कर्म से ये व्रत किस प्रकार कहे जावेंगे ? क्योंकि- कर्म शब्द को तो तुम क्रिया वाचक मानते हो, अतः कर्म का उपभोग परिभोग तो हो नहीं सकता।

उसे यह कहना चाहिये कि- यह बात सत्य है, किन्तु कर्म-व्यापार आदि सो उपभोग परिभोग के कारण हैं। जिससे कारण में कार्य का उपचार करने से कर्म शब्द ही से उपभोग परिभोग बताना चाहते हैं। इतनी ही चर्चा बस है।

उपभोग परिभोग का व्रत याने नियतपरिमाण करना सो उपभोग परिभोग व्रत।

वहां भोजन से श्रावक ने बन सके तो प्राशुक और एषणीय आहार खाना चाहिये। यह न बन सके तो अनेषणीय होने पर भी अचित्त काम में लेना, वैसा न बने तो अन्त में बहु सावद्य अशन-पान का तो वर्जन करना ही चाहिये।

वहां अशन में— सूरनकंद, वज्रकंद आदि समस्त कंद, हरी हल्दी, गीली सोंठ, गीला कचूर, सतावरी, बिदारी कंद, घीकुंवार थूवर, गिलोय, लहसन, बांस, करेला, गाजर, लवणकंद, लोहकंद, गिरि कर्णिका, कोंपल, कसेरू, थेग, गीली मोथ, लवण वृक्ष की छाल, खिलूड़ा, अमृतवेल, मूली, भूमि फोड़ा, विरुहा, ढंक, ताजा बथुआ, सूकर वेल, पलंक, कच्ची इमली, आलू, पिंडालू तथा जिनका समान भाग हो जाय और बीच में तंतु न रहे ऐसी कोई भी वनस्पति जिनेश्वर ने अनन्त काय कही है।

इस प्रकार शास्त्र में कहे हुए अनन्त-काय तथा बहु-बीज और मांसादिक वर्जनीय हैं।

पान में मांस का रस आदि तथा खादिम में बड़, पीपल,

औदुम्बर, वृक्ष और कटुम्बर नामक पंचोदुम्बरी के फल नहीं खाना। खादिम में मधु आदि का नियम लेना तथा अन्य भी अल्प सावद्य ओदनादिक में अचित्त भोजी होना आदि परिमाण का नियम करना तथा चित्त की अत्यन्त गृद्धि कराने वाले, उन्माद जनक व निन्दा जनक वस्त्र, वाहन वा अलंकारों को काम में नहीं लेना वैसे ही शेष के लिये भी परिमाण कर लेना चाहिये।

कर्म से भी श्रावक ने प्रथम तो कुछ भी कर्म ही न करना बल्कि निरारंभी होकर रहना चाहिये कदाचित् उससे निर्वाह न हो तो उस समय निर्दयोचित विशेष पाप वाले काम याने कि-कोतवाल जेलर आदि का काम, खरकर्म याने हल, मूसल, ऊखल, शस्त्र, लोह आदि के व्यापार छोड़कर जो अल्प सावद्य काम हो उन्हीं को करना चाहिये।

यहां भी भोजन से पांच अतिचार वर्जनीय है यथाः—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिवद्धाहार, अपक्वौषधिभक्षण, दुष्पक्वौषधि भक्षण तथा तुच्छौषधि भक्षण।

जो सचित्त का त्यागी और अचित्त का भोगी हो, उसको ये अतिचार है ऐसे को अनाभोग तथा अतिक्रमादिक से कंदादिक सचित्त आहार करने से अतिचार लगता है।

तथा सचित्त याने आम की गुठली आदि में लगी पक्वछाल मुँह में डालकर पक्व की अचित्त छाल मात्र खाता हूँ और सचित्त गुठली छोड़ दूंगा ऐसी बुद्धि से सचित्त प्रतिबद्ध का आहार करना सो अतिचार है, क्योंकि-वहां व्रत की अपेक्षा कायम है।

व अपक्व याने विना पकाई हुई औषधि याने गेहूँ आदि धान्य, उसका भक्षण अतिचार है। सारांश कि आटा किया हुआ होने से

अचेतन विचार कर सचित्त कण वाला, बिना पकाया हुआ खाने से अतिचार है। और दुःपक्व याने कची, पकी पकाई हुई औषधि अर्थात् पोहुआ आदि खाना सो अतिचार है। व तुच्छ याने वैसी तृप्ति नहीं करने वाली मूंगफली आदि हलकी औषधियां खाना सो अतिचार है।

कोई कहे कि-जो यह सचेतन है, तो उसका खाना प्रथम अतिचार में आ जाता है, और अचित्त हो तो, फिर वह अतिचार ही कैसा? उसको यह उत्तर है कि-यह बात सत्य है, किन्तु जो सावद्य से अत्यंत डर कर सचित्त का प्रत्याख्यान करे उसको यह अचेतन होते भी खाते हुए यथोचित तृप्ति न करने से उसका केवल लौल्यपन ही जाना जाता है, अतः इनको अचित्त करके भी न खाना चाहिये, यदि खावें तो परमार्थ से व्रत की विराधना होने के कारण अतिचार है।

इस प्रकार रात्रि भोजन व मांसादिक के व्रत में तथा वस्त्रादि परिभोग के व्रत में अनाभोग व अतिक्रमादिक अतिचार जान लेना चाहिये।

कर्म से पन्द्रह अतिचार वर्जनीय है, वे अंगार कर्म आदि हैं।

अंगार कर्म वह है जहां कि अंगारे करके बेचने में आवे (१)

वन कर्म वह है जिसमें सारा वन खरीद, उसे काटकर व बेचकर उसके लाभ से आजीविका की जाय (२)

शकट कर्म वह कि-जिसमें गाडियां बेच कर निर्वाह किया जावे। (३)

भाटी कर्म वह कि-जिसमें अपनी गाड़ी से दूसरों का सामान उठावे अथवा बैल या गाड़ी भाड़े से दे (४)

स्फोटी कर्म वह कि-जिसमें खोदने का काम अथवा हल से भूमि जोतने का काम होता है। (५)

दंतवाणिज्य वह कि- जिसमें भील लोगों को हाथी दांत लाने के लिए आगे से पैसे दिये जावें जिससे वे उसके लिये हाथी मारते हैं। इसी भांति शंख तथा चमड़े आदि के लिये पहिले से पैसा देना वह भी इसमें सम्मिलित है। (६)

लाक्षावाणिज्य प्रसिद्ध ही है (अर्थात् लाख का व्यापार) (७)

रसवाणिज्य याने मदिरादिक का व्यापार। (८)

केशवाणिज्य याने दासी आदि जीवों को लेकर दूसरी जगह बेचना। (९)

विषवाणिज्य प्रसिद्ध है। (१०)

यंत्रपीड़न कर्म वह है जिसमें कि- घाणी अथवा यंत्र में तिलादिक पीला जाता है। (११)

निर्लाञ्छन कर्म याने बैल घोड़े आदि को खस्सी करना। (१२)

दवाग्निदान याने भूमि में ताजा घांस ऊगाने के लिये कुछ वन में अग्नि लगाना। (१४)

सरोहृद तड़ागादि शोषण यह भी उनमें धान्यादि बोने के लिये किया जाता है। (१५)

असती पोषण याने कितनेक दासी को पालते हैं, उस संबंध का भाड़ा लेते हैं, यह चाल गोल्ल देश में है। (१५)

ये पन्द्रह कर्मादान हैं, क्योंकि- ये छःकाय की हिंसारूप महा-सावद्य के हेतु हैं अतः वर्जनीय हैं। ये भी उपलक्षण के रूप में हैं अतएव दूसरे भी ऐसे सावद्य कर्म वर्जना ही चाहिये।

यहां कोई यह कहे कि- अंगार कर्म तो खर कर्म रूप ही है। अतः जिसने खर कर्म का प्रत्याख्यान किया हो, उसने इसका भी प्रत्याख्यान कर ही लिया है, अतः वह करते भंग ही माना जाता है, अतिचार कैसा ?

उसको यह उत्तर है कि-जान बूझ कर करे तो भंग ही है और अनाभोगादिक से उसमें प्रवृत्त होवे तो अतिचार गिना जाता है।

इस प्रकार उपभोग परिभोग व्रत कहा, अब अनर्थदंड विरमण व्रत कहते हैं-

वहां अर्थ याने प्रयोजन, वह जहां न हो सो अनर्थ और दंड वह जिससे आत्मा दंडित हो, अर्थात् पापबंधादिरूप निग्रह सो अनर्थ दंड।

अनर्थ याने निष्प्रयोजन अपने जीव को दंड देना, सो अनर्थ दंड, वह चार प्रकार का है:—अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान और पापकर्मोपदेश; इन चार प्रकार के अनर्थ दंडों से विरमण सो अनर्थ दंड विरमण है।

अपध्यान वह है कि-जिसमें कब साथ जाता है ? क्या माल ले जाता है ? कहां जाता है ? कितने स्थान हैं ? लेनदेन का कौनसा समय है ? कहां क्या २ वस्तु आती है ? कौन लाता है ? इत्यादि अंडबंड निष्प्रयोजन चिंतवन किया जाय।

प्रमाद याने मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। उनसे अथवा उसका आचरण सो प्रमादाचरित अथवा आलस्य में रहकर कर्तव्य भूलना सो प्रमादाचरित जानो। वह प्रमादाचरित बहु-जीव के उपघात का कारणभूत है और वह यह है कि- घी, तेल के बरतन खुले रखना इत्यादि।

हिंसन शील सो हिंस्र याने शस्त्र, अग्नि, हल, ऊखल, विष आदि। ऐसी वस्तुएं दूसरों को देना सो हिंस्रप्रदान।

कृषि आदि कार्य पाप का हेतु होने से पाप कर्म गिना जाता है, उसका उपदेश सो पापकर्मोपदेश। इस तरह चार प्रकार से अनर्थदंड है, उससे विरमना सो अनर्थदंड विरमण।

इसके भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथाः– कंदर्प, कौकुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरणता और उपभोग-परिभोगातिरेक।

वहां कंदर्प अर्थात् काम—उसके उद्दीपक हास्यप्रद तथा विविध वाक्य प्रयोग भी काम के हेतु होने से कंदर्प कहलाते हैं।

दूसरों को हंसाने वाली अनेक भांति की नेत्र-संकोच के साथ भांडों के समान चेष्टाएं करना सो कौकुच्य।

ये दो अतिचार प्रमादाचरित के हैं क्योंकि ये उसी रूप के हैं।

मुख से बक बक करने वाला सो मुखर याने वाचाल उसका काम सो मौखर्य-याने कि धृष्टता पूर्ण असत्य—असंबद्ध बकना यह पापकर्मोपदेश का अतिचार है क्योंकि-मुखरपन होने ही से पापकर्मोपदेश होता है।

जिसके द्वारा आत्मा नरक की अधिकारी हो वह अधिकरण वे तुणीर, धनुष्य, मूसल, उखल, अरघट्ट आदि हैं वे संयुक्त याने काम करने के योग्य तैयार करके रखना उसे संयुक्ताधिकरण कहते हैं, उन्हें नहीं रखना चाहिये।

क्योंकि वैसे तैयार अधिकरण को देखकर उनको दूसरे भी मांगने को तैयार होते हैं, यह हिंस्रप्रदान का अतिचार है।

उपभोग परिभोग का अतिरेक याने अधिकता सो उपभोग-परिभोगातिरेक । यहां यह जानना है कि- अपने उपभोग में आने से अधिक तांबूल, मोदक, मंडकादि आदि उपभोग के अंग, तालाब आदि स्थान में नहीं ले जाना, अन्यथा वहां उनको मसखरे भी खाने लगे और जिससे अपने को निरर्थक कर्म-बंधन का दोष लगे । यह भी विषय रूप होने से प्रमादाचरित का अतिचार है, अपध्यान व्रत में अनाभोगादि से प्रवृति हो सो अतिचार है । आकुट्टि से प्रवर्तित होते भंग ही माना जाता है । इस प्रकार कंदर्पादिक में भी संभवानुसार आकुट्टि से प्रवृति करना सो भंग रूप ही जानो । इस प्रकार अनर्थदंड व्रत कहा ।

ये दिग्व्रतादिक तीनों गुणव्रत कहलाते हैं, क्योंकि - वे अणुव्रतों को गुण याने उपकार करते हैं, और अणुव्रतों को गुण व्रतों से उपकार होता है, यह स्पष्ट है, क्योंकि-विवक्षित क्षेत्रादिक से दूसरी जगह हिंसा रुकती है ।

इस प्रकार गुणव्रत रूप तीन उत्तरगुण कहे ।

अब उत्तर गुणरूप चार शिक्षा व्रत कहते हैं, वहां शिक्षा याने अभ्यास, उस सहित व्रत सो शिक्षाव्रत अर्थात् बारम्बार सेवन करने योग्य व्रत, वे सामायिक आदि चार हैं ।

वहां सम याने राग द्वेष रहित जीव का आय याने लाभ सो समाय, सम पुरुष प्रतिक्षण चिंतामणि व कल्पवृक्ष से अधिक प्रभाव वाले और निरुपम सुख के हेतु रूप अपूर्व ज्ञान दर्शन को चारित्र के पर्याय से जुड़ते हैं, समाय है प्रयोजन जिस क्रियानुष्ठान का सो सामायिक है, वह सावद्य परित्याग और निरवद्य के आसेवन रूप व्रतविशेष है, गृहवास रूप महासमुद्र के निरन्तर उछलते अनेक महान् कामों की तरंगों के चलने से

पड़ती हुई चक्रियों से होने वाली आकुलता को दूर करने वाले तथा अतिप्रचंड मोहराजा के बल को तोड़ने के लिये महा योद्धा समान इस सामायिक को सर्वारंभ में प्रवृत्त होने वाले गृहस्थ ने नित्यप्रति बीच २ में यत्नपूर्वक करना चाहिये।

क्योंकि परम मुनियों ने कहा है कि:—

सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा-सामाइयं केवलियं पसत्थं।
गिहत्थधम्मा परमंति नच्चा कुज्जा बुहो आयहियं परत्था॥
सामाइयंमि उ कए-समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं - बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

सावद्य योग को वर्जने के लिये केवली ने सामायिक बताया है, वह गृहस्थ के धर्म से उत्कृष्ट है, यह जानकर बुध पुरुष ने परार्थ साधन के हेतु आत्महित करना चाहिये।

सामायिक करने से श्रावक श्रमण के समान होता है, इस कारण से बारंबार सामायिक करना चाहिये।

इसके भी पांच अतिचार वर्जनीय है, वहां मन वचन और काया के दुःप्रणिधान रूप तीन अतिचार हैं, अनोभोगादिक से सावद्य चित्तादिक में प्रवृत्त होना सो मन आदि का दुःप्रणिधान है, तथा स्मृत्यकरण और पांचवा अनवस्थित सामायिक करना।

वहां स्मृति का अकरण यह है कि- प्रबल प्रमाद से इतना स्मरण न करे कि-अमुक समय सामायिक करना है, अथवा किया है या नहीं मोक्षानुष्ठान में स्मृति विशेष आवश्यकीय है।

जो करने के अनन्तर तुरन्त ही छोड़ दे अथवा जैसे वैसे अनादरवान हो कर करे उसका वह काम अनवस्थित करण कहलाता है।

कहा है कि सामायिक लेकर उसमें घर की चिन्ता करे, इच्छानुसार बोले और शरीर को भी वश में न रखे उसका सामायिक निष्फल होता है।

अब देशावकाशिक रूप दूसरा शिक्षाव्रत कहते हैं, वहां दिग्व्रत में लिये हुए सविस्तृत दिक् प्रमाण को देश में याने संक्षेप विभाग में अवकाश याने अवस्थान सो देशावकाश उससे बना हुआ सो देशावकाशिक-अर्थात् लंबे रखे हुए दिक्परिमाण का संकोच करना सो देशावकाशिक व्रत है।

यहां भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा :— आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बहिःपुद्गलप्रक्षेप।

इसका तात्पर्य यह है कि:—उपाश्रय आदि नियत स्थान में रहकर दिक्प्रमाण का संकोच करने के अनन्तर जब व्रत भंगके भय से स्वयं बाहर न जाकर दूसरे के द्वारा संदेशा भेजकर आवश्यकीय वस्तु मंगाने का प्रयोग करे तथा प्रयोजन वश सेवक को निश्चित क्षेत्र से बाहिर भेजे तथा निश्चित क्षेत्र से बाहिर खड़े हुए किसी व्यक्ति को देखकर व्रत भंग के भय से स्वतः न बुला सकने से उसे बुलाने के हेतु खंकारे अथवा अपना रूप बतावे तथा अमुक व्यक्ति को बुलाने के हेतु ही से क्षेत्र से बाहिर पत्थर आदि पुद्गल फेंके तब पांच प्रकार से देशावकाशिक व्रत को अतिचार लगावे।

इस व्रत के करने का यह मतलब है कि—जाते आते में जीव घातादिक आरंभ न हो।

तब वह आरंभ स्वयं किया अथवा दूसरे से कराया, उसमें परमार्थ से कुछ भी अन्तर नहीं, उलटा स्वयं चलकर जाने से

ईर्यापथ शुद्धि से गुण है व दूसरा तो अजान होकर जैसे तैसे चलता है।

यहां जो केवल दिक् परिमाण व्रत का संक्षेप करना बताया है वह उपलक्षण मात्र है, जिससे शेष प्राणातिपातादिक व्रतों का संक्षेपण इसी व्रत में जान लेना चाहिये, अन्यथा दिन और मास आदि के लिये भी उनका संक्षेपण आवश्यकीय होने से अधिक व्रत हो जाने पर बारह व्रत की संख्या टूटेगी।

अब पौषध रूप तीसरा शिक्षा व्रत कहते हैं:—

वहां पौष याने पुष्टि सो उपस्थित विषय में धर्म की जानो, उसे जो धरे याने करे सो पौषध, अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णिमा और अमावस्या के दिन करने का व्रत विशेष सो पौषध है।

पौषध चार प्रकार का है:— आहारपौषध, शरीरसत्कार-पौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापारपौषध।

वह प्रत्येक दो प्रकार का है:- देश से व सर्व से। पौषध लेने पर आहार व शरीरसत्कार का देश से व सर्व से परिहार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य तथा अव्यापार का देश से व सर्व से पालन करना चाहिये।

इसके भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं, यथा-

अप्रत्युपेक्षित-दुःप्रत्युपेक्षित-शय्यासंस्तारक, अप्रमार्जित-दुःप्रमार्जित-शय्यासंस्तारक, अप्रत्युपेक्षित-दुःप्रत्युपेक्षित-उच्चार-प्रश्रवण-भूमि, अप्रमार्जित-दुःप्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि और पौषध का सम्यग् अपालन।

ये पांचों अतिचार स्पष्ट हैं, तथापि अप्रत्युपेक्षित याने आंख

से नहीं देखा हुआ और प्रमादी होकर आंख से बराबर नहीं देखा हुआ सो दुःप्रत्युपेक्षित है तथा अप्रमार्जित याने रजोहरणादिक से न शोधा हुआ और दुःप्रमार्जित सो उनके द्वारा ठीक-ठीक न शोधा हुआ सो जानो।

कोई पूछे कि- पौषध वाले श्रावक के पास क्या रजोहरण भी होता है? उसे यह कहना कि- हां, होता है। क्योंकि सामायिक की समाचारी बोलते हुए आवश्यक चूर्णिकार ने कहा है कि-

" साहूणं सगासाओ रयहरणं निसिज्जं वा मग्गइ,
अह घरे—तो से उवग्गहियं रयहरणमत्थि त्ति "

" साधुओं के पास से रजोहरण वा निषद्या मांग लेना चाहिये, यदि घर पर सामायिक करे तो उसको औपग्रहिक रजोहरण होता है। "

शयन याने शय्या. उसके लिये संस्तारक सो शय्या संस्तारक।

पौषध का सम्यक् अपालन तब होता है, जब कि-उपवासी होकर भी मन से आहार की इच्छा करे वा पारणे में अपने लिये उत्तम रसोई करावे, तथा शरीर में केश रोमादिक को शृंगार बुद्धि से ऊंचे नीचे करे अथवा मन से अब्रह्म वा सावद्य व्यापार का सेवन करे।

अब अतिथिसंविभाग रूप चौथा व्रत कहते हैं—

यहां तिथि-पर्व आदि लौकिक व्यवहार छोड़कर आने वाला सो अतिथि, वह श्रावक के घर भोजन के समय आया साधु जानो क्योंकि—

कहा है कि—तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्तायेन महात्मना ।
अतिथि तं विजानीया–च्छेषमभ्यागतं विदुः ॥

जिस महात्मा ने तिथी पर्व के सर्व उत्सव त्याग किये हों, उसे अतिथी जानना चाहिये व शेष को अभ्यागत ।

उस अतिथि को संगत याने निर्दोष न्यायार्जित कल्पनीय वस्तुओं का श्रद्धा और सत्कार पूर्वक भाग याने अंश देना सो अतिथिसंविभाग कहलाता है, भाग देने का यह कारण है कि- उससे पश्चात्कर्म न करना पड़े ।

इसके भी पांच अतिचार हैं—

सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधानं, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सरिकता. वहां सचित्त पृथिव्यादिक में साधु को देने की वस्तु रख छोड़ना सो सचित्तनिक्षेप ।

वैसी ही वस्तु को सचित्त कुष्मांडफल आदि से ढांक रखना सो सचित्तपिधान ।

काल याने साधु को उचित भिक्षा समय का अतिक्रम याने नहीं देने की इच्छा से पहिले अथवा पीछे खा कर उल्लंघन करना सो कालातिक्रम ।

पर का याने दूसरे का है ऐसा व्यपदेश करना, अर्थात् साधु को देने योग्य वस्तु अपनी होते हुए न देने की इच्छा से " पराई है मेरी नहीं " इस प्रकार साधु के सन्मुख बोलना सो परव्यपदेश ।

मत्सर याने साधुओं के मांगने पर क्रुद्ध हो जाना अथवा अमुक रंक होते हुए देता है तो मैं क्या उससे भी हीन हूँ कि न

दूँ ? इस तरह अहंकार करना सो मत्सर. वह मत्सरवाला सो मत्सरिक और मत्सरिकपन सो मत्सरिकता ।

इस प्रकार संक्षेप से द्वादश व्रत कहे, उनका विस्तार से वर्णन आवश्यक की निर्युक्ति, भाष्य तथा टीका में है।

इस प्रकार श्रावक व्रत के भेद व अतिचार जाने. व्रतपरिज्ञान यहां उपलक्षण के रूप में है, अतः तप संयम आदि के फल आदि को भी तुंगिका नगरी के श्रावकों के समान जाने।

तुंगिया नगरी श्रावक का दृष्टान्त इस प्रकार है—

उस काल में उस समय में तुंगिका नामक एक नगरी थी (नगरी का वर्णन उववाई सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिये)
उस तुंगिका नगरी के बाहिर ईशान्य कोण में पुष्पवती नामक चैत्य (मंदिर) था, (चैत्य का वर्णन भी उववाई सूत्र के अनुसार जानो)

उस तुंगिका नगरी में बहुत से श्रमणोपासक वसते थे, वे पैसेदार, दाभियान, मालामाल, विशाल भवन, राचरचीले व वाहन वाले, विपुल सोने चांदी के स्वामी और महान व्यापारी थे. उनके यहां बहुत से खानपान तैयार होते थे और उनके घर बहुत से दास, दासी, गाय, भैंस, बकरी आदि थे, वे किसी से भी परतंत्र न थे—तथा वे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष के ज्ञाता थे. जिससे उनको बड़े २ देव, दानव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महोरग आदि देवता भी जैन सिद्धांत से डिगा नहीं सकते. वे जैन सिद्धांत में शंका—कंखा विचिकित्सा से रहित थे, वे जैन सिद्धांत के अर्थ को गुरु से सुनकर उसे भली भांति धारण कर रखने

वाले थे, उनके हाड़ हाड़ में धर्मानुराग व्याप्त हो रहा था, और वे ऐसा मानते कि, यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, शेष सर्व अनर्थ है।

उनके घर के द्वार खुले रहते थे, वे अंतःपुर या परगृह में प्रवेश नहीं करते थे, तथा वे बहुत शीलव्रत, गुणव्रत, त्याग, पच्चक्खाण, पौषध-उपवास करते थे तथा चतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णिमा व अमावस्या को पूर्ण पौषध पालते थे—वैसे ही वे श्रमण निर्ग्रंथ को प्राशुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपोंछनक, औषध, भैषज्य तथा पीछे लिये जा सके ऐसे पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक देते रहकर, अंगीकृत तपकर्म से आत्मा को पवित्र रखते हुए विचरते थे।

उस काल में उस समय में पार्श्वनाथ के शिष्य स्थविर साधु, जो कि—जाति, कुल, बल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लज्जा और लाघव से संपन्न थे, तथा पराक्रमी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे तथा क्रोध मान माया लोभ को जीतने वाले व जितनिद्र, जितेन्द्रिय तथा जितपरिग्रह थे और जीवन मरण के भय से विमुक्त थे।

वे पांचसौ अणगारों सहित अनुक्रम से भ्रमण करते हुए ग्राम ग्राम फिरकर सुखसमाधि से विचरते हुए, जहां तुंगिका नगरी थी और जहां पुष्पवती चैत्य था वहां आये और यथायोग्य स्थान खोजकर तप संयम से अपने को भावते हुए विचरने लगे।

तब उक्त श्रमणोपासकों को इस बात की खबर होते ही, वे हृष्टतुष्ट होकर एक दूसरे को बुलाकर एकत्र हुए, पश्चात् उन्होंने कहा कि-हे देवानुप्रिय बंधुओ! यहां स्थविर भगवान का आगमन हुआ है।

अतः हे देवानुप्रिय ! वैसे स्थविर भगवन्तों का नाम गोत्र सुनने मात्र से ही वास्तव में महाफल होता है तो भला उनके सामने जाना, वन्दन करना, नमन करना, पूछना, पर्युपासना करना उसमें कहना ही क्या है ? अतः चलो, हम उनको वन्दना करें, नमन करें यावत् सेवा करें ।

यह कार्य अपने को इस भव व परभव में कल्याणकारी होगा, यह कहकर उन्होंने परस्पर यह बात स्वीकार की, पश्चात् वे अपने २ घर आये वहां नहा धोकर, बलि कर्म, कौतुक मंगल और प्रायश्चित कर पवित्र मांगलिक वस्त्र पहिर कर, शरीर में थोड़े किन्तु बहुमूल्य आभरण धारण कर वे अपने २ घर से निकल कर सब एकत्रित हुए, पश्चात् पैदल चलकर वे तुंगिका नगरी के मध्य से होकर नगरी के बाहिर आये ।

पश्चात् वे पुष्पवती चैत्य में आकर स्थविर भगवंतों की ओर पांच अभिगम से जाने लगे, वह इस प्रकार कि--सचित्त पदार्थ दूर रखे, अचित्त पदार्थ साथ रखे, एक उत्तरासंग किया, दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़े और मन को एकाग्र किया, इस प्रकार वे स्थविर भगवानों के समीप पहुँचे ।

पश्चात् वे उनको तीन बार प्रदक्षिणा देकर वंदना नमन करने लगे और मानसिक वाचिक तथा कायिक ये तीन प्रकार की पर्युपासना करने लगे ।

काया से वे हाथ जोडकर, सुनने को उद्यत हो, नमते हुए सन्मुख रह विनय से अंजलि जोड़ सेवा करने लगे, वचन से वे स्थविर भगवंत जो कुछ कहते उसे वे "आप कहते हो वह ऐसा ही है, सत्य है, उसमें कुछ भी शक नहीं, हमें इष्ट है और वह स्वीकृत है," जो आप कहते हो यह कहकर अप्रतिकूलता से सेवन करते ।

वाले थे, उनके हाड़ हाड़ में धर्मानुराग व्याप्त हो रहा था, और वे ऐसा मानते कि, यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, शेष सर्व अनर्थ है।

उनके घर के द्वार खुले रहते थे, वे अंतःपुर या परगृह में प्रवेश नहीं करते थे, तथा वे वहुत शीलव्रत, गुणव्रत, त्याग, पच्चक्खाण, पौषध—उपवास करते थे तथा चतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णिमा व अमावस्या को पूर्ण पौषध पालते थे—वैसे ही वे श्रमण निर्ग्रंथ को प्राशुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपोंछनक, औषध, भैषज्य तथा पोछे लिये जा सके ऐसे पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक देते रहकर, अंगीकृत तपकर्म से आत्मा को पवित्र रखते हुए विचरते थे।

उस काल में उस समय में पार्श्वनाथ के शिष्य स्थविर साधु, जो कि—जाति, कुल, बल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लज्जा और लाघव से संपन्न थे, तथा पराक्रमी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे तथा क्रोध मान माया लोभ को जीतने वाले व जितनिद्र, जितेन्द्रिय तथा जितपरिषह थे और जीवन मरण के भय से विमुक्त थे।

वे पांचसौ अणगारों सहित अनुक्रम से भ्रमण करते हुए ग्राम ग्राम फिरकर सुखसमाधि से विचरते हुए, जहां तुंगिका नगरी थी और जहां पुष्पवती चैत्य था वहां आये और यथायोग्य स्थान खोजकर तप संयम से अपने को भावते हुए विचरने लगे।

तव उक्त श्रमणोपासकों को इस वात की खवर होते ही, वे हृष्टतुष्ट होकर एक दूसरे को वुलाकर एकत्र हुए, पश्चात् उन्होंने कहा कि-हे देवानुप्रिय वंधुओ ! यहां स्थविर भगवान का आगमन हुआ है

अतः हे देवानुप्रिय! वैसे स्थविर भगवन्तों का नाम गोत्र सुनने मात्र से ही वास्तव में महाफल होता है तो भला उनके सामने जाना, वन्दन करना, नमन करना, पूछना, पर्युपासना करना उसमें कहना ही क्या है? अतः चलो, हम उनको वन्दना करें, नमन करें यावत् सेवा करें।

यह कार्य अपने को इस भव व परभव में कल्याणकारी होगा, यह कहकर उन्होंने परस्पर यह वात स्वीकार की, पश्चात् वे अपने २ घर आये वहां नहा धोकर, बलि कर्म, कौतुक मंगल और प्रायश्चित कर पवित्र मांगलिक वस्त्र पहिर कर, शरीर में थोड़े किन्तु बहुमूल्य आभरण धारण कर वे अपने २ घर से निकल कर सब एकत्रित हुए, पश्चात् पैदल चलकर वे तुंगिका नगरी के मध्य से होकर नगरी के बाहिर आये।

पश्चात् वे पुष्पवती चैत्य में आकर स्थविर भगवंतों की ओर पांच अभिगम से जाने लगे, वह इस प्रकार कि—सचित्त पदार्थ दूर रखे, अचित्त पदार्थ साथ रखे, एक उत्तरासंग किया, दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़े और मन को एकाग्र किया, इस प्रकार वे स्थविर भगवानों के समीप पहुँचे।

पश्चात् वे उनको तीन वार प्रदक्षिणा देकर वंदना नमन करने लगे और मानसिक वाचिक तथा कायिक ये तीन प्रकार की पर्युपासना करने लगे।

काया से वे हाथ जोडकर, सुनने को उद्यत हो, नमते हुए सन्मुख रह विनय से अंजलि जोड़ सेवा करने लगे, वचन से वे स्थविर भगवंत जो कुछ कहते उसे वे "आप कहते हो वह ऐसा ही है, सत्य है, उसमें कुछ भी शक नहीं, हमें इष्ट है और वह स्वीकृत है," जो आप कहते हो यह कहकर अप्रतिकूलता से सेवन करते।

मन से महासंवेग धारण कर तीव्र अनुराग से सेवा करते थे।

तब वे स्थविर भगवंत उन श्रमणोपासकों को और उस महान् पर्षदा को चतुर्याम धर्म सुनाने लगे।

तब वे श्रमणोपासक उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछने लगे—

जो संयम का फल अनाश्रव है और तप का फल निर्जरा है तो किस कारण से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं?

तब उनमें से कालिक पुत्र नामक स्थविर उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार कहने लगे—

हे आर्यों! पूर्व तप से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

आनन्दरक्षित नामक स्थविर इस प्रकार बोले:—

पूर्व संयम से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं॥

महल-नामक स्थविर इस प्रकार बोले:—

कार्मिका क्रिया से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

काश्यप नामक स्थविर इस प्रकार बोले—

हे आर्यों! सांगिकी क्रिया से देवता देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अतः पूर्व तप, पूर्व संयम, कार्मिकी और सांगिकी क्रिया से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं, यह बात सत्य है, आत्म भावत्व से देव नहीं हुआ जाता।

तब वे श्रावक स्थविरों से ऐसे उत्तर पाकर, हर्षित हो, उनको वन्दना तथा नमन कर, प्रश्न पूछ व अर्थ ग्रहण करके उठ खड़े हुए।

वे उठकर स्थविरों को तीन वार वन्दना कर, नमन कर, पुष्पवती चैत्य से लौटकर जिस दिशा से आये उसी दिशा को चले गये।

तदनन्तर वे स्थविर वहां से विहार कर आसपास के प्रदेश में विचरने लगे।

(इस प्रकार भगवती सूत्र के पाठ से कथा कहकर अव आचार्य उपसंहार करते हैं—)

इस प्रकार गुणगण से आढ्य, जिन प्रणीत सात तत्त्व में विदग्ध, प्रतिज्ञा में अभग्न रहनेवाले तुंगिका के श्रावक सुख के भाजन हुए।

इस प्रकार तुंगिका नगरी के श्रावकों की शास्त्र संबंधी पवित्र विचारों में कुशलता सुनकर जिन भाषित व्रत के भंग, भेद और अतिचार आदि के निर्मल तत्व ज्ञान में भव्य जनों ने निमग्न होना चाहिये।

इस प्रकार तुंगिका नगरी के श्रावकों का दृष्टांत है।

व्रत कर्म में ज्ञान रूप दूसरा भेद कहा, अव ग्रहण रूप तीसरा भेद कहने के हेतु आधी गाथा कहते हैं।

गिण्हइ गुरूण मूले इत्तरमिअरं व कालमह ताइं।

मूल का अर्थ—गुरु से थोड़े समय के लिये अथवा यावज्जीवन वह व्रत लेता है।

टीका का अर्थ—ग्रहण करता है याने स्वीकारता है गुरु के मूल में अर्थात् आचार्यादिक से, आनन्द श्रावक के समान—यहां

कोई शंका करे कि-भला श्रावक देशविरति का परिणाम होवे तब व्रत ले कि उसके बिना भी लेता है। जो देशविरति का परिणाम हो, तो फिर गुरु के पास जाने का क्या काम है? जो साध्य है वह अपने आप ही सिद्ध हो गया है, क्योंकि-व्रत लेकर भी देश विरति का परिणाम ही साधने का है वह उसे स्वयं ही सिद्ध हो गया है व उससे गुरु को भी कष्ट तथा योग में अंतराय डालने का दोष दूर होगा। अब दूसरा पक्ष लेते हो तो दोनों को मृषावाद का प्रसंग उपस्थित होगा साथ ही परिणाम बिना पालन भी नहीं हो सकेगा।

यह सब दूसरों की शंका अनुचित है, क्योंकि-दोनों प्रकार से लाभ दृष्टि आती है वह इस प्रकार है देशविरति परिणाम आया हुआ होने पर भी गुरु से व्रत लेने से उसका माहात्म्य रहता है तथा मुझे सद्गुणवान् गुरु की आज्ञा पालना ही चाहिये, इस प्रकार प्रतिज्ञा के लिये निश्चय होने से व्रतों में दृढता होती है तथा जिनाज्ञा भी आराधित होती है।

कहा है कि:--

गुरु की साक्षी से धर्म करने से सर्व विधि संपन्न होने से वह अधिक उत्तम होता है वैसे ही साधु के समीप त्याग करने से तीर्थंकर की आज्ञा भी (आराधित) होती है व गुरु का उपदेश सुनने से प्रगटे हुए विशेष कुशल अध्यवसाय से कर्म का अधिकतर क्षयोपशम होता है और उससे अल्प व्रत लेने के इच्छुक भी अधिक व्रत लेने में समर्थ होते हैं, इत्यादिक अनेक गुण गुरु से व्रत लेने वाले को होते हैं।

वैसे ही जो अभी तक विरति का परिणाम नहीं आया हो, तो भी गुरु का उपदेश सुनने से वा निश्चय पूर्वक पालन करने

से सरल हृदय जीव को अवश्य प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार गुरु शिष्य दोनों को मृषावाद नहीं लगता क्योंकि वहां किसी भी प्रकार गुण का लाभ रहता है।

तो भी शठ (कपटी) पुरुष को गुरु ने व्रत नहीं देना चाहिये, कदाचित् छद्मस्थपन के कारण शठ की शठता न पहिचानने से गुरु उसे व्रत दे तो भी वे निर्दोष माने जावेंगे क्योंकि गुरु के परिणाम तो शुद्ध ही हैं यह बात हम अपनी कल्पना से नहीं कहते।

क्योंकि श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा है कि, परिणाम होने भी गुरु से लेने में यह गुण है कि-दृढ़ता होती है, आज्ञा रूप से विशेष पालन होता है और कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि होती है।

इस प्रकार यहां अधिक फल होने से दोनों को हानि होने का दोष नहीं रहता. वैसे ही परिणाम न होने पर भी गुण होने से मृषावाद नहीं लगता।

जिससे उसके ग्रहण से वह भाव कालांतरे अशठ भाव वाले को प्राप्त होता है, अन्य याने शठ को वह देना ही नहीं चाहिये. कदाचित गुरु ठगा जाय तो भी उनके अशठ होने से उनको दोष नहीं।

विस्तार से पूर्ण हुआ, अब कैसे लेना सो कहते हैं :—
परिज्ञान करने के अनन्तर इत्वर काल पर्यंत अर्थात् चातुर्मासादिक की सीमा बांधकर अथवा यावत्कथिक याने यावज्जीवन पर्यंत व्रत लेना याने उसने व्रत लेना चाहिये।

आनन्द श्रावक का दृष्टान्त इस प्रकार है :—

वाणिज्यग्राम नगर में अर्थिजनों को आनन्द देने वाला आनन्द नामक गृहपति था, उसके शिवनन्दा नामक भार्या थी।

उसके यहां चार करोड़ धन निधान में रहता और चार करोड़ वृद्धि के उपयोग में आता था, चतुष्पद के विस्तार में उसके यहां दश दश हजार गायों के चार गोकुल थे और पांच सौ हल थे तथा चारों दिशाओं से घांस आदि लाने के लिए पांच सौ गाड़े थे और चार विशाल जहाज थे।

अब एक समय वहां दूतिपलाश नामक उद्यान में महान् अर्थ वाले, पदार्थ समूह को विस्तार से प्रकट करने वाले वीरस्वामी पधारे। प्रभु को नमन करने को जाते हुए राजा आदि लोगों को देखकर आनन्द गृहपति भी आनन्द से वहां गया। तब भगवान उसको इस प्रकार धर्म कहने लगे–

कष, छेद, ताप और ताडन से शुद्ध किये हुए सोने के समान श्रुत, शील, तप और करुणा से जो रम्य धर्म हो उसे ग्रहण करना वह तीन प्रकार के उपद्रव दूर करने में समर्थ और विमल धर्म दो प्रकार का है :– सुसाधु का धर्म और सुश्रावक का धर्म। सुसाधु का धर्म दश प्रकार का है और श्रावक का धर्म बारह प्रकार का है ऐसा सुनकर साधु धर्म को लेने में असमर्थ आनन्द ने प्रमोद से सम्यक्त्व मूल श्रावक का धर्म ग्रहण किया।

यथा:– निरपराधी त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का दो करण और तीन योग से त्याग किया तथा स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा करने का भी त्याग किया। कन्यालीक आदि पांच प्रकार के अलीक वचनों का द्विविध त्रिविध त्याग किया तथा स्थूल अदत्तादान का त्याग किया वैसे ही शिवानन्दा को छोड़कर मैथुन का त्याग किया।

पूर्व परिग्रहों से अधिक परिग्रहों का त्याग किया साथ ही शक्त्यनुसार दशों दिशाओं का परिमाण नियत किया. भोगोपभोग

में अभ्यंग के लिये शतपाक और सहस्र पाक तैल छुटे रक्खे। उद्वर्तन के लिये गंधाढ्य छुट्टा रखा और नहाने के लिये पानी के आठ घड़े रखे।

अंगलूहण के लिये गंधकषाय, दातौन के लिये मधु यिष्टी, वस्त्र के लिये क्षौम युगल तथा विलेपन के लिये चन्दन, श्रीखण्ड रखा। अलंकार में कर्णाभरण व नाम मुद्रा तथा फूलों में पुंडरीक व मालती के पुष्पों की माला की छुटी रखी। धूप में अगर और तुरुष्क, दाल में कुलथी, मूंग और उड़द की दाल, कूर में कलम-शाली और घृत में शरद ऋतु का गाय का घी रखा।

भक्ष्य में घृत पूर्ण खंडखाद्य, शाक में सौवस्तिक का शाक, सालण (अथाणा) में पल्लंक और आहुरक में वटक आदि दानों की छूट रखी। तंबोल में कर्पूर, लौंग, कंकोल, इलायची और जायफल, फल में क्षीरामल और पानी में आकाश के जल की छूट रखी।

इतनी वस्तुओं के सिवाय शेष वस्तुओं का भोजन से भोगोपभोग में त्याग किया और कर्म से पन्द्रह कर्मादान तथा खरकर्म का त्याग किया तथा उस अवद्य-भीरु ने अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान और पापोपदेश. इस प्रकार चारों प्रकार के अनर्थदंड का त्याग किया व उसने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि संविभाग व्रत यथोचित विधी के साथ अंगीकार किये।

अब प्रभु बोले कि- हे आनन्द ! सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों के पांच २ अतिचार तूंने वर्जन करना चाहिये।

आपकी शिक्षा चाहूँ, यह कह आनन्द श्रावक वीर-प्रभु को वन्दना करके अपने घर को आया और उसने अपनी स्त्री को प्रभु के पास (धर्म सुनने के लिए) भेजा।

वह भी वीर-प्रभु को वन्दना कर उसी प्रकार धर्म स्वीकार कर घर आई और वीरप्रभु जगज्जन को बोध देने के लिये, अन्यत्र विचरने लगे। इस प्रकार कर्म को बराबर चूरने में समर्थ, सद्धर्म कार्य-रत उक्त आनन्द श्रावक को सुख-पूर्वक चउदह वर्ष व्यतीत हो गये। अब एक समय रात्रि को धर्म-जागरिका जागता हुआ विचारने लगा कि– यहां बहुत से विक्षेपों के कारण मैं विशेष धर्म नहीं कर सकता।

अतः ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर कोल्लाक नामक समीपस्थ पुर में जाकर अपना हित साधन करूं। यह सोच उसने वैसा ही किया। उसने कोल्लाक सन्निवेश में जाकर अपने सम्बन्धियों को यह बात कह, पौषधशाला में रह कर ये ग्यारह प्रतिमाएँ धारण कीं। दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, पौषध प्रतिमा, प्रतिमा प्रतिमा, अब्रह्म वर्जन प्रतिमा, सचित्त वर्जन प्रतिमा, आरम्भ वर्जन प्रतिमा, प्रेष्य वर्जन प्रतिमा, उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा और श्रमण–भूत प्रतिमा।

शंकादिशल्य से रहित, विद्यादि गुण सहित, दया संयुक्त सम्यक्त्व धारण करना यह पहली प्रतिमा है. उसी प्रकार व्रत धारी होना दूसरी और सामायिक करना तीसरी प्रतिमा है, चतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णिमा व अमावस्या के दिनों में चार प्रकार के परि-पूर्ण पौषध का सम्यक् पालन करना चौथी प्रतिमा है और पौषध के समय एक रात्रि को प्रतिमा धारण करके रहना पांचवीं प्रतिमा है, स्नान नहीं करना, गर्म पानी पीना और प्रकाश में खाना याने दिन में ही खाना, रात्रि में नहीं. सिर पर मौलिबंध नहीं बांधना. पौषध नहीं हो तब दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात्रि में परिमाण करना, वैसे ही पौषध हो तब रात्रि–दिवस नियम से ब्रह्मचर्य का पालन करना. इस प्रकार पांच मास पर्यन्त रहने पर

पांचवीं प्रतिमा पूर्ण होती है. छठी में छः मास पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

सातवीं में सात मास पर्यन्त सचित्त आहार नहीं खाना व नीचे की प्रतिमाओं में करने के जो २ कार्य हैं; वे सब उपर की में कायम रहते हैं।

आठवीं प्रतिमा में आठ मास पर्यंत स्वतः आरंभ न करे, नवमी में नवमास पर्यन्त सेवकों से भी आरम्भ नहीं करावे।

दशवीं में दश मास पर्यन्त उद्दीष्टकृत अर्थात् आधाकर्मि आहार भी न खावे तथा खुरमुंड होवे वा शिखा धारण करे। इन प्रतिमाओं के रहने पर, वह पूर्व उसने जो निधानगत द्रव्य रखा हो; उसके विषय में उसके उत्तराधिकारी पूछें तो जानता हो तो उनको कह दे और नहीं जानता हो तो कहे कि नहीं जानता। ग्यारहवीं प्रतिमा में खुरमुंड वा लोच करावे, और रजोहरण वा पात्र रख कर श्रमण भूत याने साधु समान हो कर विचरे, मात्र स्वजाति में आहार लेने जाय।

यहां अभी ममकार कायम होता है, क्योंकि वह स्वजाति ही में भिक्षा को जाता है, तथापि वहां भी साधु के समान प्राशुक आहार पानी लेना चाहिये। इस प्रकार छट्ठ, अट्ठम आदि दुष्कर तप से प्रतिमाओं का पालन कर शरीर को कृश करके क्रमशः उस धीर श्रावक ने अनशन किया। उस समय उसको शुभ भावना वश अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह उत्तर दिशा के सिवाय शेष दिशाओं में लवण समुद्र में पांच सौ पांच सौ योजन पर्यंत देखने लगा। उत्तर दिशा में चुल्ल-हिमवंत पर्वत पर्यन्त और उपर सौधर्म देवलोक पर्यन्त व नीचे रत्नप्रभा नारकी के लोलुप नरक तक वह जानने देखने लगा।

इतने में वाणिज्यग्राम में वीर प्रभु का समवसरण हुआ, उनकी आज्ञा से भिक्षा लेने के हेतु गौतम स्वामी नगर में आये। वे भिक्षा लेकर वापस फिरे, इतने में उन्होंने लोगों के मुंह से आनन्द का अनशन सुना, जिससे वे कोल्लाक सन्निवेशस्थ पौषधशाला में गये।

तब उनको नमन करके आनन्द श्रावक पूछने लगा कि–हे भगवन्! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है? तब वे बोले कि–हां, उत्पन्न होता है। तब, उनके सन्मुख उसने अपने को उपजी हुई अवधि का प्रमाण कह सुनाया, तब सहसा गौतम स्वामी इस भांति कहने लगे कि:— "हे आनंद! गृहवास में निवास करते गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, यह बात सत्य है, परन्तु इतना बड़ा नहीं होता, अतः हे आनन्द! तू इस की आलोचना ले, प्रतिक्रमण कर, निन्दाकर, गर्हा कर, निवृत्ति कर, विशुद्धिकर और यथा योग्य तपकर्म रूप प्रायश्चित अंगीकार कर। तब आनन्द, भगवान गौतम स्वामी को कहने लगा कि:– हे भगवन्! क्या जिनवचन में ऐसा है कि–वर्तमान तथ्य–तथाभूत सद्भूत भावों की भी आलोचना व प्रायश्चित लेना चाहिये? गौतम स्वामी बोले कि–ऐसा कैसे हो सकता है?

तब आनंद बोला कि– जो ऐसा है तो हे भगवन्! आप ही इसकी आलोचना आदि लीजिये।

तब आनन्द के ये वाक्य सुनकर गौतम स्वामी दुविधा में पड़ हुए उसके पास से रवाना होकर दूतीपलाश चैत्य में जहां भगवान् श्री महावीर थे, वहां आये, आकर आहार पानी बताया, पश्चात् उनको वन्दना व नमन करके इस प्रकार कहने लगे:—

हे भगवन्! आपकी अनुज्ञा से........इत्यादि सर्व वृत्तान्त कहकर अन्त में उन्होंने कहा कि, इसी से मैं वहां से जल्दी आया हूँ, अतः हे भगवन्! इसकी आलोचना आनन्द श्रावक ने लेना चाहिये कि मैंने ? तब भगवान् गौतमादिक सब साधुओं को आमंत्रण करने के अनन्तर गौतम को इस प्रकार कहने लगे:--हे गौतम ! इसकी आलोचना तू ही ले--व प्रायश्चित आदि ले और इस विषय में आनन्द श्रावक को खमा।

तए णं से भयवं गोयमे समणस्स एयमठ्ठं पडिसुणेइ, (२) तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमठ्ठं खामेइ — समणेणं भगवया महावीरेणं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तब भगवान गौतम ने वीर प्रभु की बात स्वीकार की उस विषय की आलोचना देकर प्रायश्चित लिया और आनन्द श्रावक के पास जाकर उसे इस सम्बन्ध में खमा आये पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के साथ वे बाहिर के प्रदेश में विचरने लगे।

अब आनन्द श्रावक इस प्रकार बीस वर्ष पर्यंत धर्म का पालन कर एक मास की संलेखना करके समाधि से शरीर को यहां छोड़ सौधर्म देवलोक में अरुणाभ विमान में चार पल्योपम की आयुष्य से देवता हुआ व वहां से च्यवन होने पर महाविदेह से मोक्ष को जावेगा। इस प्रकार हे भव्य जनो ! तुम विचार पूर्वक इस आनन्द श्रावक का उदार चरित्र सुनकर तुम्हारी शक्ति के अनुसार व्रत का भार ग्रहण करो; जिससे कि संसार समुद्र का पार पाओ।

व्रत कर्म में ग्रहण रूप तीसरा भेद कहा अब प्रतिसेवना रूप चौथा भेद कहने के लिये गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं:--

आसेवइ थिरभावो आयंकुवसग्गसंगे वि ।

मूल का अर्थ.—रोग व उपसर्ग आ पड़ने पर स्थिरता रख कर व्रत का सेवन करे।

टीका का अर्थः--आसेवन करे याने सेवन करे अर्थात् यथा रीति से पालन करे. स्थिर भाव में रहकर याने निष्कंप मन रखकर, आतंक याने ज्वरादि रोग और उपसर्ग सो दिव्य, मानुष, तिर्यगयोनिक तथा आत्मसंवेदनीय रूप से चार प्रकार के हैं उन प्रत्येक के पुनः चार भेद हैं, यथाः—दिव्य, मानुष, तिर्यग् तथा आत्मसंवेदनीय उपसर्ग प्रत्येक चार प्रकार के हैं जिससे उपसर्ग सोलह प्रकार के होते हैं ।

वहां दिव्य के चार भेद इस प्रकार हैं:—हास्यसे, प्रद्वेषसे, ईर्ष्या से और पृथग् विमात्रा से. उसमें अंतिम भेद का हास्य से आरंभ होता है और प्रद्वेष से समाप्त होते हैं। मानुष्य उपसर्ग के चार भेद इस प्रकार हैं:—हास्य से, प्रद्वेष से, ईर्ष्या से और कुशील प्रति सेवना से। तिर्यंच के उपसर्ग इस प्रकार होते हैं:-भय से, द्वेष से, भोजन के हेतु तथा बच्चे व घर को रखने के हेतु । आत्मसंवेदनीय के चार प्रकार:-वात से, पित्त से, कफ से तथा सन्निपात से जो व्याधियां होती हैं सो जानो अथवा निम्नानुसार जानो घट्टन से, स्तंभन से, श्लेषण से और प्रपतन से. घट्टन से याने आंख में रज आदि पड़ जाने से जो पीड़ा होती है सो. स्तंभन याने वात से जो अंग अकड़ जाता है सो. श्लेषण याने लम्बे समय तक दबाकर रखने से जो अंगोपांग सिकुड़ जाते हैं सो.

जानो वैसे ही स्तंभादि में अथड़ाते देह टूट जाती है सो प्रपतन।

इन आतंक तथा उपसर्गों का संग याने संपर्क होने पर भी निष्कंप रहे, वहां आरोग्य द्विज के समान आतंक के संग में तथा उपसर्ग के संग में "कामदेव श्रावक" के समान निष्कंपायमान रहना चाहिये।

वहां आरोग्य नामक ब्राह्मण का दृष्टांत इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण का शरीर जिस प्रकार सुचक्र से विभूषित था वैसे ही जो सज्जनों के चक्र (समूह) से विभूषित होते हुए लाखों गजों (हाथी) से संयुक्त बहुसंख्य लक्ष्मी से भरपूर उज्जयिनी नामक नगरी थी। वहां देवदत्त नामक ब्राह्मण था, वह जितेन्द्रिय व कुलीन था। उसकी अत्यानन्दकारिणी नन्दा नामक भार्या थी।

उनके एक पुत्र हुआ, वह जन्म से ही रोगग्रस्त रहता था। जिससे दूसरा नाम नहीं रखने से वह रोग नाम से प्रख्यात हुआ।

एक दिन उनके घर कोई मुनि भिक्षा के लिये आये, तब वह ब्राह्मण अपने उक्त पुत्र को उनके चरणों में डालकर बोला कि:— हे प्रभु! आप कृपा करके इस बालक की रोग—शान्ति का उपाय कहिये। तब मुनि बोले कि—भिक्षा भ्रमण करते हुए मुनियों को बात करने में दोष लगता है, जिससे वह बात नहीं कही जा सकती।

तब ब्राह्मण मध्याह्न के समय अपने पुत्र को साथ में लेकर उद्यान में जाकर मुनि को नमन करके उक्त बात पूछने लगा, तब वे महर्षि इस प्रकार बोले— पाप से दुःख होता है और धर्म से शीघ्र ही नष्ट होता है, अग्नि से जलता हुआ घर, पानी के प्रवाह से बुझाया जाता है। भली-भांति पालन किये हुए धर्म से सकल दुःख शीघ्र ही नष्ट होते हैं और पुण्य से ऐसे दुःख परभव में भी

प्राप्त नहीं होते। यह सुन उन्होंने प्रतिबोध पाकर दोनों पिता-पुत्र ने श्रावक धर्म स्वीकार किया, उसमें भी उनका पुत्र अत्यन्त दृढ़ धर्मी हुआ।

वह विचारने लगा कि– तरंगों से कुलाचल को तोड़ने वाला समुद्र उछलता हुआ कदाचित् रोका जा सकता है, किन्तु अन्य जन्म में किया हुआ शुभाशुभ कर्म का दैवी परिणाम अटकाया जा ही नहीं सकता। इस भांति विचार कर वह सम्यक प्रकार से रोग सहन करता था और सावद्य चिकित्सा को वह किसी समय मन से भी नहीं चाहता था।

अब इन्द्र ने किसी समय देव-सभा में उसकी दृढ़ धार्मिकता की प्रशंसा की, तब दो देवता उस बात को न मानकर (परिक्षा के हेतु) यहां वैद्य का रूप धारण करके आये। यहां वे आकर बोले कि– यह बालक जो हमारे कथनानुसार क्रिया करे, तो हम इसे निरोग कर दें। तब उसके स्वजन सम्बन्धी पूछने लगे कि– वह क्रिया कैसी है? तब वे नीचे लिखे अनुसार कहने लगे कि– प्रथम प्रहर में मधु चाटना चाहिये, अंतिम प्रहर में प्राचीन सुरा पीना चाहिये और रात्रि को मक्खन तथा मांस सहित भात खाना चाहिये।

तब ब्राह्मण पुत्र बोला कि– इनमें से एक भी उपाय मैं नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करने से मेरा व्रत भंग हो जावे, जिससे मैं डरता हूँ, साथ ही इनमें स्पष्ट जीव–हिंसा है। क्योंकि–

कहा है कि– मद्ये मांसे मधुनि च – नवनीते तक्रतो बहिर्नीते।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते – तद्वर्णासूक्ष्मजंतवः॥ १॥

मद्य में, मांस में, मधु में और तक्र से निकाले हुए मक्खन में उन्हीं के समान रंग के सूक्ष्म जंतु उत्पन्न होते व मरते रहते हैं।

उपासक दशा सूत्र से जान लेना चाहिये।

इस प्रकार व्रत कर्म सेवन रूप चौथा भेद कहा, उसके कहने से प्रथम कृत व्रतकर्म रूप लक्षण उसके भेद सहित समर्थित किया अब शील वन्त रूप दूसरे लक्षण को व्याख्या करते हैं।

आययणं खु निसेवइ[१] वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे[२]।
निच्चमणुब्भडवेसो[३] न भणइ सवियारवयणाइं[४] ॥ ३७ ॥
परिहरइ बालकीलं[५] साहइ कज्जाइं महुरनीईए[६]।
इय छव्विहसीलजुओ विन्नेओ सीलवंतोऽत्थ ॥ ३८ ॥

मूल का अर्थः—आयतन सेवे, विना प्रयोजन परगृह में प्रवेश नहीं करे, सदैव अनुद्भट वेश रखे, विकार युक्त वचन न बोले, बालक्रीड़ा का त्याग करे, मधुर नीति से काम की सिद्धि करे, इस प्रकार छः भांति से शील से जो युक्त हो वह यहां शीलवन्त श्रावक जानो।

निर्भेदिनी वा चारित्र निर्भेदिनी विकथा निरन्तर होती हो उसे अति दुष्ट अनायतन जानो। (ये अनायतन न सेवे) यह प्रथम शील है।

तथा परगृह प्रवेश याने दूसरों के घर जाना, वह अकार्य में याने विशेष आवश्यक कार्य के अतिरिक्त वर्जनीय है। क्योंकि—कुछ नष्ट विनष्ट हो जावे तो उनको अपने ऊपर व्यर्थ आशंका रह जाती है यह दूसरा शील है। तथा अनुद्भटवेष याने सामान्य वेष धारण करना यह तीसरा शील है। तथा सविकार वचन अर्थात् राग द्वेष रूप विकार की उत्पत्ति की कारण भूत वाणी न बोले यह चौथा शील है।

तथा बालक्रीड़ा याने मूर्ख जनों को विनोद देने वाले जुआ आदि काम त्यागे यह पांचवा शील है।

तथा काम याने प्रियजनों को मधुर नीति से अर्थात् " हे भले भाई! ऐसा कर " ऐसे साम वचनों से सिद्ध करे यह छठा शील है।

पूर्वोक्त छः प्रकार के शील से जो युक्त हो वह, यहां श्रावक के विचार में शीलवान समझा जाता है।

अब इन्हीं छः शील की व्याख्या करने प्रथम आयतन रूप शील को आधी गाथा द्वारा उसके गुण बताकर सिद्ध करते हैं:—

(आययण सेवणाओ—दोसा। खिज्जंति वड्ढइ गुणोहो।)

मूल का अर्थ—आयतन सेवन करने से दोष नष्ट होते हैं और गुण समूह की वृद्धि होती है।

टीका का अर्थ—उक्त स्वरूप आयतन के सेवन—उपासन से मिथ्यात्वादि दोष क्षीण होते हैं और ज्ञानादिक गुणसमूह वृद्धि को प्राप्त होते हैं, सुदर्शन के समान।

सुदर्शन की कथा

परम–हिम सहित (अत्यन्त बरफ वाली) सती पवित्र (पार्वती से पवित्र) शिव कलित (महादेव सहित) हिमालय की भूमि के समान--पर--महिम समेत (अति महिमावन्त) सती पवित्र (सती स्त्रियों से पवित्र) शिव कलित (निरुपद्रव) सौगन्धिका नगरी थी वहां नगर में श्रेष्ठ सुदर्शन नामक मिथ्यादृष्टि सेठ था। वह शुक परिव्राजक का भक्त था व सांख्य सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञाता था। इधर सौराष्ट्र देश में द्वारिका नामक नगरी थी। वहां सम्यक्त्व से पवित्र श्रीकृष्ण राजा राज्य करता था वहां थावच्चा नामकी एक प्रख्यात सार्थवाहिनी थी. उसका बालक अल्प–वयस्क था. तभी कर्म वश उसका पति मर गया था, जिससे शोकातुर रहते उसने उस बालक का नाम ही नहीं रखा। अतः वह लोक में थावच्चापुत्र के नाम से प्रख्यात हुआ कालक्रम से वह कला कुशल होकर यौवनावस्था को प्राप्त हुआ तब उसकी माता ने उसका एक ही साथ बत्तीस बड़े २ सेठों की कन्याओं से विवाह किया उनके साथ उसने दोगुंदक देव के समान निश्चिंतता से अनुपम सुख भोगते हुए बहुत काल व्यतीत किया।

वहां एक दिन नेमिनाथ जिन पधारे, उनको वन्दना करने के लिये श्रीकृष्ण बड़ी धूम धाम से जाने लगा तथा वहां अन्य भी राजेश्वर, तलवर (जेलर); सार्थवाह, सेठ आदि नगर लोग शीघ्र २ जिनवंदन को रवाना हुए। उनको सजधज कर एक दिशा में जाते देखकर थावच्चापुत्र अपने प्रतिहार को पूछने लगा कि– ये लोग सजधज कर शीघ्र २ कहां जा रहे हैं ? उसने उत्तर दिया कि–नेमिनाथ भगवान को नमन करने के

लिये जाते हैं तब वह भी रथ पर आरूढ हो वहां जाकर भक्ति से विधि पूर्वक भगवान को वन्दना कर एकाग्र हो धर्म श्रवण करने लगा। संसार सकल दुःखों का कारण होने से असार है, मोक्ष में महा सुख है और चारित्र का पालन करने से वह प्राप्त होता है।

यह सुन वह संवेग पाकर जिनेश्वर को कहने लगा कि- माता को पूछ कर, मैं आपके पास दीक्षा लूंगा भगवान् बोले कि- यही बात योग्य है। तब थावच्चापुत्र घर जाकर माता को प्रणाम करके पूछने लगा कि- हे माता! मैं दीक्षा लूंगा। तब उसकी माता स्नेह मुग्ध होकर रोती हुई बोली कि- प्रव्रज्या दूसरों को भी बहुत दुष्कर है जिससे तेरे समान सुखी को तो और भी अधिक दुष्कर होगी।

हे पुत्र! तू निष्ठुर होकर मुझ आशावती को तथा इन बत्तीस विनयवती स्त्रियों को छोड़कर कैसे जावेगा? अतः दान भोग से भी कम न हो ऐसे इस कुलक्रमागत धन को जो कि तेरे पूर्व सुकृत से तुझे प्राप्त हुआ है दान धर्म में व्यय करता हुआ विलास कर और पुत्र परिवार होने के अनन्तर, तेरी उम्र बड़ी होने पर, तेरा आत्म हितार्थ करना। माता के इस प्रकार कहने पर वह बोला कि- जीवन अनित्य है उसमें ऐसा करना योग्य नहीं।

व अपने हृदय से अपन एक बात सोचते हैं और दैव के योग से दूसरा ही कुछ हो जाता है इत्यादिक युक्ति - प्रयुक्ति की भावना पर से उसका दृढ़ उत्साह जानकर थावच्चा सार्थवाही ने उसे अपनी इच्छा न होने पर भी अनुमति दी। पश्चात् उसने श्रीकृष्ण के पास जाकर पुत्र का सर्व वृत्तांत कह सुनाया और

दीक्षा महोत्सव करने को राज-चिह्न मांगे। तब श्रीकृष्ण संतुष्ट होकर कहने लगे कि- धर्म के हेतु जिसका ऐसा निश्चय है, उसे धन्य है। अतः (हे सार्थवाहिनी !) तूं निश्चिंत रह, मैं स्वयं ही दीक्षा महोत्सव करूंगा।

पश्चात् श्रीकृष्ण उसके घर जाकर थावच्चाकुमार को कहने लगे कि- हे वत्स ! तूं सुख भोग, क्योंकि भिक्षा महा दुःख मय है। तब थावच्चाकुमार बोला कि-हे स्वामी ! भय से जो अभिभूत हो उसे सुख कहां से हो ? अतः सर्व भय का भगाने वाला धर्म ही करना चाहिये।

श्रीकृष्ण बोलेः- मेरी बाहु-छाया में बसते हुए, हे वत्स ! तुझे भय है ही नहीं, और यदि हो तो बतादे, ताकि मैं झट उसका निवारण करूं। तब थावच्चाकुमार बोला कि-जो ऐसा ही है तो, मेरी ओर आती हुई जरा व मृत्यु का निवारण करिये, कि जिससे मैं निश्चित मन से, हे स्वामी ! भोग सुख भोगूं।

तब राजा बोले कि- हे सुन्दर ! इस जीव लोक में ये दो दुर्वारि हैं, इनका निवारण करने को इन्द्र भी समर्थ नहीं, तो हम किस प्रकार निवारण कर सकते हैं ? क्योंकि संसार में जीवों को कर्म वश जरा-मरण प्राप्त होता है, तब थावच्चाकुमार बोला कि- इसी से मैं कर्मों का नाश करना चाहता हूँ।

उसका इस भांति निश्चय देखकर श्रीकृष्ण बोले कि -तुझे धन्यवाद है, हे धीर ! तूं प्रसन्नता से प्रव्रज्या ले व तेरा मनोरथ पूर्ण हो।

अब श्रीकृष्ण ने अपने घर आकर, सारी नगरी में इस प्रकार उद्घोषणा कराई कि-" थावच्चाकुमार मोक्षार्थी होकर दिक्षा लेता

लिये जाते हैं तब वह भी रथ पर आरूढ हो वहां जाकर भक्ति से विधि पूर्वक भगवान को वन्दना कर एकाग्र हो धर्म श्रवण करने लगा। संसार सकल दुःखों का कारण होने से असार है, मोक्ष में महा सुख है और चारित्र का पालन करने से वह प्राप्त होता है।

यह सुन वह संवेग पाकर जिनेश्वर को कहने लगा कि– माता को पूछ कर, मैं आपके पास दीक्षा लूंगा भगवान् बोले कि– यही बात योग्य है। तब थावच्चापुत्र घर जाकर माता को प्रणाम करके पूछने लगा कि– हे माता! मैं दीक्षा लूंगा। तब उसकी माता स्नेह मुग्ध होकर रोती हुई बोली कि– प्रव्रज्या दूसरों को भी बहुत दुष्कर है जिससे तेरे समान सुखी को तो और भी अधिक दुष्कर होगी।

हे पुत्र! तूं निष्ठुर होकर मुझ आशावती को तथा इन बत्तीस विनयवती स्त्रियों को छोड़कर कैसे जावेगा? अतः दान भोग से भी कम न हो ऐसे इस कुलक्रमागत धन को जो कि तेरे पूर्व सुकृत से तुझे प्राप्त हुआ है दान धर्म में व्यय करता हुआ विलास कर और पुत्र परिवार होने के अनन्तर, तेरी उम्र बड़ी होने पर, तेरा आत्म हितार्थ करना। माता के इस प्रकार कहने पर वह बोला कि– जीवन अनित्य है उसमें ऐसा करना योग्य नहीं।

व अपने हृदय से अपन एक बात सोचते हैं और दैव के योग से दूसरा ही कुछ हो जाता है इत्यादिक युक्ति – प्रयुक्ति की भावना पर से उसका दृढ़ उत्साह जानकर थावच्चा सार्थवाही ने उसे अपनी इच्छा न होने पर भी अनुमति दी। पश्चात् उसने श्रीकृष्ण के पास जाकर पुत्र का सर्व वृत्तांत कह सुनाया और

भव्यो ! जो तुम कल्याणमय पद को प्राप्त करना चाहते हो तो सदैव आयतन सेवो। पांच प्रकार के आचार को पालने वाले साधुओं को आयतन जानो। आयतन के सेवन से झाड़ जिस भांति पानी के सींचने से बढ़ता है वैसे ही गुण बढ़ते हैं और सूर्य के किरणों से जैसे शीत नष्ट होता है वैसे ही दोष जाल नष्ट होते हैं।

यह सुन सुदर्शन सेठ उनको पूछने लगा कि- हे भगवन् ! आपका धर्म किं मूलक है ? तब गुरु बोले कि--हे सुदर्शन ! हमारा धर्म विनयमूल है। वह दो प्रकार का है:--अगारि विनय और अनगारि विनय। पहिले में बारह व्रत हैं और दूसरे में महाव्रत हैं।

अब हे सुदर्शन ! तेरा धर्म किं मूलक है ? वह बोला, हमारा धर्म शौचमूल है और निर्विघ्नता से स्वर्ग देता है। तब गुरु बोले—जीव प्राणिवध आदि से खूब मलीन होकर पुनः उसी से कैसे पवित्र होता है ? क्योंकि रुधिर से खराब हुआ वस्त्र रुधिर से शुद्ध नहीं हो सकता।

यह सुन सुदर्शन संतुष्ट हो प्रतिबोध पाकर गृहस्थ धर्म अंगीकार करके उसका नित्य पालन करने लगा। यह बात शुक परिव्राजक को ज्ञात होने पर उसे विचार आया कि--

सुदर्शन ने शौचमूल धर्म त्याग कर विनयमूल धर्म स्वीकार किया है, अतः सुदर्शन से वह मत छुड़वाना चाहिये ताकि वह पुनः शौचमूल धर्म कहे, यह विचार कर वह एक सहस्र परिव्राजकों के साथ सौगंधिका नगरी में जहां परिव्राजकों की बस्ती थी वहां आकर ठहरा, पश्चात् धातुरक्त वस्त्र पहिनकर कुछ परिव्राजक साथ में ले उस बस्ती से निकल सौगंधिका के बीचोंबीच होकर सुदर्शन के पास आया।

तब सुदर्शन उसे आता देख कर उसके सन्मुख नहीं उठा, सामने नहीं गया, बोला नहीं, नमा नहीं किन्तु चुपचाप बैठा रहा। उसे बैठा देखकर शुक परिव्राजक बोला कि– हे सुदर्शन! पहिले तू मुझे आता देखकर मान देता था व वन्दना करता था किन्तु इस समय वैसा नहीं करता है, सो तूने ऐसा विनय वाला धर्म किससे स्वीकार किया है?

इसका ऐसा वचन सुनकर सुदर्शन आसन से उठकर, शुक परिव्राजक को इस प्रकार कहने लगा कि– हे देवानुप्रिय! अर्हत् अरिष्टनेमि के अंतेवासी थावच्चापुत्र नामक अनगार यहां आये हुए हैं, जो कि अभी भी यहां नीलाशोक नामक उद्यान में विचरते हैं, उनके पास से मैंने विनय मूल धर्म स्वीकृत किया है।

तब शुक परिव्राजक सुदर्शन को इस प्रकार कहने लगा—हे सुदर्शन! चलो, अपन तेरे धर्माचार्य थावच्चापुत्र के पास चलें, मैं उसे अमुक प्रकार के अमुक प्रश्न पूछूंगा वह जो उनके उत्तर नहीं देंगे तो इन्हीं प्रश्नों से तुझे बोलता बंद करूंगा। तदनन्तर शुक हजार परिव्राजकों (शिष्यों) व सुदर्शन के साथ नीलाशोक उद्यान में थावच्चापुत्र अनगार के पास आकर इस प्रकार बोलाः—

हे पूज्य! आपको यात्रा है? आपको यापनीय है? आप को अव्याबाध है? आपको प्राशुक विहार है? तब थावच्चापुत्र शुक परिव्राजक के ये प्रश्न सुनकर उसे इस भांति उत्तर देने लगेः—हे शुक! मुझे यात्रा भी है, यापनीय भी है, अव्याबाध भी है और प्राशुक विहार भी है, तब शुक परिव्राजक थावच्चापुत्र को इस प्रकार पूछने लगाः—

हे भगवन्! यात्रा क्या है? (थावच्चापुत्र बोले) हे शुक! जो मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम आदि योग की यतना

है सो यात्रा है। हे भगवन् यापनीय क्या है ? हे शुक ! यापनीय दो प्रकार का हैः--इन्द्रिय यापनीय और नोइन्द्रिय यापनीय।

इन्द्रिय यापनीय याने क्या ? हे शुक ! जो मेरे श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिव्हा और स्पर्शेन्द्रिय कायम होकर वश में रहती हैं, सो इन्द्रिय यापनीय है। नोइन्द्रिय यापनीय याने क्या ? हे शुक ! जो क्रोध, मान, माया और लोभ उपशान्त रहकर उदय नहीं होते सो नोइन्द्रिय यापनीय है। अव्याबाध याने क्या ? हे शुक ! जो मुझे वात, पित्त, कफ व सन्निपात से उत्पन्न होने वाले अनेक रोग और आतंक उदय नहीं होते सो अव्याबाध है।

प्राशुक विहार याने क्या ?

हे शुक ! मैं जो आराम, उद्यान, देवल, सभा तथा प्रपाओं में स्त्री, पशु, पंडक रहित वसति को छोड़कर प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक लेकर विचरता हूँ सो प्राशुक विहार है। हे पूज्य ! सरिसवय (समान वय वाले अथवा सरसव) भक्ष्य हैं वा अभक्ष्य हैं ?

हे शुक ! सरिसवय दो जाति के हैं:--मित्र सरिसवय और धान्य सरसव। मित्र तीन जाति के हैं:--सहजात, सहवर्धित और सहपांशुक्रीडित। ये श्रमणों को अभक्ष्य हैं। धान्य सरसव दो जाति की हैः--शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत, उनमें अशस्त्र परिणत अभक्ष्य हैं।

शस्त्र परिणत सरसव पुनः दो प्रकार को हैः— प्राशुक और अप्राशुक, उसमें अप्राशुक अभक्ष्य है। प्राशुक दो प्रकार की हैः—याचित और अयाचित, उसमें अयाचित अभक्ष्य है। याचित पुनः दो प्रकार की हैः--एषणीय और अनेषणीय, उसमें अनेषणीय अभक्ष्य है।

एषणीय दो प्रकार को है:—लब्ध और अलब्ध, इसमें अलब्ध अभक्ष्य है। मात्र जो लब्ध हो, सो श्रमण निर्ग्रंथों को भक्ष्य है। इस कारण से हे शुक! ऐसा कहता हूँ कि, सरिसवय भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

इसी भांति कुलत्था के लिये भी जान लेना चाहिये, इसके दो प्रकार हैं, यथा—कुलत्था याने कुलीन स्त्री और कुलत्था याने कुलथी धान्य।

कुलत्था स्त्री तीन प्रकार की है:—कुलकन्या, कुलमाता, और कुलवधू। कुलथी धान्य के लिये सरसवानुसार भेद करके जान लेना चाहिये। इस भांति माष के लिये भी जान लेना चाहिये, माष तीन जाति के हैं—अर्थमाष, कालमास और धान्य माष।

कालमास बारह हैं:—श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त, वे अभक्ष्य हैं। अर्थ माष दो प्रकार के हैं:—हिरण्य माष व सुवर्ण माष, वे भी अभक्ष्य हैं। धान्य माष, (उड़द) के विषय में सरसवानुसार भेद करके समझ लेना चाहिये।

आप एक हैं? दो हैं? अक्षय हैं? अव्यय है? अवस्थित हैं? अनेक भाव वाले हैं?। हे शुक! मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ, और यावत् व अनेक भाव वाला भी हूँ।

हे शुक! द्रव्यार्थनय से मैं एक हूँ, ज्ञान दर्शन रूप से मैं दो हूँ। प्रदेशार्थनय से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ, उपयोग से अनेक भाव वाला हूँ। यह सुन शुक बोध प्राप्त कर गुरु को विनय करने लगा कि-मैं आप से हजार परिव्राजकों के साथ दीक्षा लेना चाहता हूँ। सूरि ने कहा- प्रमाद मत करो, तब उसने संतुष्ट हो कुलिंगी का लिंग त्याग कर सपरिवार दीक्षा ग्रहण की।

उसने क्रमशः सर्व आगम सीखे, थावच्चाकुमार ने उसे अपने पद पर स्थापित किया और आप हजार शिष्यों सहित सिद्धगिरि पर आकर मोक्ष को पधारे। अब शुक आचार्य भी चिरकाल तक भव्य कमलों को सूर्य के समान विकसित करता हुआ हजार साधुओं के साथ सिद्धगिरि पर आकर मोक्ष को पहुँचा।

सुदर्शन सेठ भी आयतन सेवनरूप अमृतरस से दोष रूप विष के बल को नष्ट कर शुद्ध सम्यक्त्व धारण कर सुगति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार आयतन की सेवा करने से सुदर्शन सेठ ने सुन्दर फल पाया। अतः भव समुद्र में डूबते बचे हुए हे सज्जनों! तुम उसमें आदरवन्त होओ।

इस प्रकार सुदर्शन की कथा है:—

शीलवन्त का प्रथम भेद कहा, अब उसका परगृह प्रवेश वर्जन रूप दूसरा भेद कहने के लिये गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं।

परगिहगमणं पि कलंक-पंकमूलं सुसीलाणं ॥२९॥

मूल का अर्थ—सुशील पुरुषों को भी परगृह जाना कलंक रूप पंक का मूल हो जाता है।

टीका का अर्थ—परगृह गमन याने दूसरे के घर जाना—अपि शब्द उपरोक्त सुशील शब्द के साथ जुड़ेगा—कलंक दोष वही निर्दोष पुरुष को मैला करने वाला होने से कादवरूप है। उसका मूल याने कारण है, अर्थात् दोष लगाने वाला है—(किसको सो कहते हैं) सुशील याने सुदृढशील जनों को भी धनमित्र के समान।

यहां यह समाचारी है— श्रावक को यद्यपि अन्तःपुर में तथा किसी के भी घर में जाने में कुछ भी बाधा नहीं होती, तथापि उसने अकेले परगृह में नहीं जाना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर भी वहां बड़े मनुष्य के साथ प्रवेश करना चाहिये। गाथा के प्रथम दल में जैसे गुरु सत्तगण (गुरु अक्षर सहित सात गण) होते हैं, वैसे गुरु सत्तगण याने महा सत्त्व (साहस) वाले मंडलों वाला विनयपुर नामक नगर था। वहां वसु नामक सेठ था और उसकी भद्रा नामक स्त्री थी।

उनका धनमित्र नामक पुत्र था, उसकी बाल्यावस्था ही में उसके माता-पिता मर गये, वैसे ही पुण्य रूप मेघ नष्ट होने से नदी के प्रवाह के समान धन भी नष्ट हो गया। उस बालक को उसके परिजनों ने भी क्रमशः छोड़ दिया, जिससे वह दुःख से बड़ा हुआ तथा निर्धन होने से कोई भी उसे कन्या नहीं विवाहता था। तब वह लज्जित होकर द्रव्योपार्जन की तृष्णा से नगर से रवाना हुआ। मार्ग में उसने किसी स्थान पर किंशुक (केसुड़ी) के वृक्ष पर प्रारोह- उत्पन्न हुई वनस्पति विशेष देखा।

तब उसे खान की बात जो कि उसने पहिले सुनी थी, सो याद आई, वह इस प्रकार है कि- जो अक्षीर झाड़ में प्ररोह बैठा हुआ दीखे तो उसके नीचे धन गड़ा हुआ जानो। बिल व पलाश के वृक्ष पर स्थिर और बड़ा प्ररोह हो तो वहां बहुत धन होता है, छोटा प्ररोह हो तो थोड़ा धन होता है। वैसे ही रात्रि को वहां··· बोले तो बहुत धन होता है और दिन में बोलता हो तो थोड़ा धन होता है। प्ररोह को जख्म करते जो उसमें से लाल रस निकले तो वहां रत्न होते हैं, जो सफेद रस निकले तो चांदी होती है, जो पीला रस निकले तो सुवर्ण होता है और जो

कुछ भी न निकले तो कुछ भी नहीं होता है। वहां जितना ऊँचा प्ररोह बैठा हो उतना ही नीचे खोदने पर धन मिलता है।

उस वृक्ष की पींड ऊपर से सकड़ी व नीचे से चौड़ी हो, तो वहां निश्चय धन जानो और इससे विपरीत होवे तो वहां धन नहीं होता है। यह निश्चय कर धनमित्र निम्नांकित मंत्र बोलकर उस जगह को खोदने लगा।

"नमो धनदाय – नमो धरणेन्द्राय – नमो धनपालाय – इति मंत्र पठन् खनतिस्म तं प्रदेशं"

"धनद को नमस्कार, धरणेन्द्र को नमस्कार, धनपाल को नमस्कार"

तथापि अपुण्यता वश उसने वहां केवल अग्नि के अंगार के दो ताम्र कलश देखे, तब वह विषाद पाकर सोचने लगा कि–प्ररोह का पीला रस देखने से मैं निश्चय धारता था कि–सुवर्ण निकलेगा। किन्तु हाय–हाय! मैं अपुण्यवान होने से यहां केवल अंगारे ही देखता हूँ। तथापि उसने विचार किया कि– द्रव्यार्थी मनुष्य ने कुछ भी होने पर भी निराश नहीं होना चाहिये। क्योंकि सब जगह कहावत है कि– हिम्मत रखना ही लक्ष्मी का मूल है।

यह सोचकर आगे भी उसने बहुत सी भूमि खोदी, किन्तु अपुण्य के योग से उसे कौड़ी भी नहीं मिली। उसने धातुवाद सीखा, किन्तु उसे क्लेश के सिवाय अन्य फल नहीं मिला। तब वह वणिक बनकर वहाण पर माल लेकर चढ़ा। वहां वहाण टूट गया। अब वह स्थल मार्ग से व्यापार करने लगा, उसमें उसने कुछ धन कमाया किन्तु उसे चोर व राजा आदि ने छीन लिया।

तब वह महान् परिश्रम के साथ राजा आदि की नौकरी (सेवा) करने लगा। वहां भी उसके अपुण्यवश उन्होंने उसे कुछ

भी नहीं दिया। इस प्रकार दुःख सहते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करते उसने एक समय गजपुर नगर में गुणसागर नामक केवलज्ञानी गुरु को देखा।

उसे कर्म का विवर प्राप्त होने से वह अत्यादर पूर्वक गुरु के चरणों में नमन करने लगा, तब वे मुनीश्वर उसे इस प्रकार योग्य धर्म कथा कहने लगे कि- धर्म से मनुष्य धनवान होते हैं, धर्म से उत्तम कुल में जन्म मिलता है, धर्म से दीर्घ आयुष्य होती है तथा धर्म से पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है, धर्म से चारों समुद्रों के अन्त वाले भूमंडल में निर्मल कीर्ति फैलती है, वैसे ही धर्म से कामदेव से भी अधिक रूप मिलता है।

भवनपति देवताओं के मणि-रत्नों की प्रभा से चारों दिशाओं को जगमगाते हुए भवन में जो सुख भोगे जाते हैं वह सब धर्म का माहात्म्य है तथा चक्रवर्ती के चरणों में हर्ष के बल से जो उद्भ्रान्त होकर राजाओं का समूह नमन करता है वे शुद्ध धर्म-रूपी कल्पवृक्ष ही के पुष्प हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

हर्ष युक्त सुरांगनाओं के हाथ से डुलते हुए चंचल और सुन्दर चामरों के मुकुट वाला देवलोक का इन्द्र भी धर्म के प्रभाव ही से होता है। अधिक क्या कहें? धर्म ही से सकल सिद्धियां होती हैं तथा धर्म रहित जीवों को कभी भी फलसिद्धि नहीं होती।

यह सुनकर धनमित्र हाथ जोड़कर आचार्य को नमन करके कहने लगा कि- हे मुनीश्वर! आपने कहा सो ठीक ही है।

हे प्रभु! मुझे जन्म से ही दुःख पड़ता आ रहा है, जिसे कि आप अपने ज्ञान से जानते ही हो। अतः उसका क्या कारण है? तब गुरु बोले कि- हे भद्र! इस भरत में विजयपुर नगर में

गंगदत्त नामक एक गृहपति था, उसकी मगधा नामक स्त्री थी। वह गृहपति धर्म का नाम भी नहीं जानता था। वह दूसरों को भी धर्म करने में उत्सुक होते देखकर विघ्न डालता था और मत्सर से भरा हुआ रहकर किसी को भी लाभ होता देखकर सहन नहीं कर सकता था। वह जो व्यापार में किसी को अधिक लाभ देखता तो उसे सात मुँह से ताव चढ़ आता था, इस प्रकार उसके दिन बीतते थे।

किसी दिन सुन्दर नामक श्रावक उसे करुणा से मुनियों के पास ले गया, वहां उसको उन्होंने इस प्रकार धर्म सुनाया उपशम, विवेक और संवर वाला तथा यथाशक्ति नियम और तप वाला जिन-धर्म पालना चाहिये, जिससे कि- अपार लक्ष्मी प्राप्त हो। यह सुनकर कुछ भाव तथा कुछ दाक्षिण्यता से उसने नित्य प्रति देव-दर्शन करने आदि के कुछ अभिग्रह लिये।

मुनियों को नमन कर उसने अपने घर आकर अति प्रमादी हो कर कुछ अभिग्रह समूल तोड़ डाले, तथा मूढ़ मन रखकर कुछ को अतिचार लगाये। वह मात्र एक चैत्यवंदन के अभिग्रह को अतिचार रहित होकर पालने लगा। वही कालक्रम से मरकर तूं हुआ है।

इस प्रकार पूर्वकृत दुष्कृत वश तूंने ऐसा फल पाया है और जिनवन्दन के प्रभाव से तुझे मेरे दर्शन हुए हैं। यह सुन धनमित्र संवेग पाकर मुनीश्वर को नमन करके अनेक दुःखों के नाशक गृही धर्म को सम्यक् रीति से अंगीकार करने लगा।

दिवस व रात्रि के प्रथम प्रहर में धर्म कार्य के अतिरिक्त मैं अन्य कार्य नहीं करूंगा तथा सहसाकार और अनाभोग सिवाय किसी के साथ प्रद्वेष भी नहीं करूंगा।

इस प्रकार घोर अभिग्रह लेकर गुरु के चरणों में वन्दन कर नगर के भीतर किसी श्रावक के घर आकर ठहरा। वह सूर्योदय होने पर माली के साथ बाग में से फूल चुनकर गृह देवालय की प्रतिमाओं को नित्य भक्ति से पूजने लगा। दूसरे प्रहर में लोक व आगम से अविरुद्धता के साथ व्यापार करने लगा, उसमें उसे विना परिश्रम खाने जितना मिलने लगा।

ज्यों ज्यों वह धर्म में स्थिर होने लगा त्यों त्यों उसके पास धन बढ़ने लगा, वह उस धन में से बहुत-सा भाग धर्म में खर्च करने लगा व थोड़ा भाग घर लाता। अब उसे एक महर्द्धिक श्रावक ने धर्म-निष्ठ देखकर अपनी पुत्री विवाह दी। वे दोनों व्यक्ति धर्म परायण हो गये।

वह किसी समय गुड़ व तैल बेचने को गोकुल में गया, उस समय उसके पास का गुड़ दूसरे के घर जाते-जाते धूप से तप कर पिघल कर गिरने लगा। यह देख उक्त गोकुल का मेहतर उसे लेने के लिये निधान में रखे हुए तांबे के कलश में पड़े हुए कोयले बाहिर डालने लगा, वे अंगारे धनमित्र की दृष्टि में सुवर्ण के रूप में दीखे। तब वह पूछने लगा कि—इनको बाहिर क्यों डालते हो? तब मेहतर बोला कि—हमारे बाप ने इन्हें सोना कहकर अभी तक हमको ठगा था। किन्तु अब इन्हें अंगारे देखकर इस भांति बाहिर फैंकते हैं, तब शुद्ध हृदय सेठ बोला कि—हे भद्र! यह तो वास्तव में सुवर्ण ही है।

तब मेहतर बोला कि—अरे मूढ़! क्या तू पागल है या धूर्त है अथवा तू ने धतूरा खाया है? या दरिद्र को सब सुवर्ण ही दृष्टि में आता है? जो यह सुवर्ण हो तो मुझे थोड़ा गुड़ व तैल देकर इसे तूं ही लेजा। सेठ ने वैसा ही किया।

उन अंगारों को अपनी गाड़ी में लेकर वह घर आ, जिन-प्रतिमा को नमन करके ज्योंही उसे सम्हालने लगा तो तीस हजार का सुवर्ण जान पड़ा। उसने धर्म परायण रहकर दूसरा भी बहुत-सा धन प्राप्त किया। जिससे लोक में बात होने लगी कि-देखो! धर्म का माहात्म्य कैसा है?

उसी नगर में सुमित्र नामक एक बड़ा सेठ रहता था। उसने कोटि-मूल्य रत्नों की एक रत्नावली बनवाई थी। वह घर में अकेला बैठा था। उसके पास किसी आवश्यक कार्य के हेतु धनमित्र अकेला जा पहुँचा व उसके समीप जाकर बैठ गया।

अब धनमित्र के साथ वह सेठ कुछ बातचीत करके किसी कार्य के हेतु घर के अन्दर गया, वापस लौटकर वहां आकर ज्यों ही देखा तो रत्नावली उसके देखने में नहीं आई, जिससे वह बोला कि-मैंने उसे बनवाकर यहां रखी थी, हे धनमित्र! वह कहां चली गई, सो कह? क्योंकि यहां मेरे व तेरे अतिरिक्त दूसरा कोई था ही नहीं, अतः तूं ने ही उसे लिया है। इसलिये मुझे वह वापस दे व देर मत कर।

तब धनमित्र सोचने लगा कि- अहो! कर्म का विलास देखो क्योंकि कुछ भी दोष नहीं करते भी ऐसे वचन कान से सहना पड़ते हैं। इसी कारण से श्रावकों को जिनेश्वर ने पर-गृह में जाने का निषेध किया है, क्योंकि वहां जाने से अवश्यमेव कलंक आदि लगना संभव है। अतः मैं आज से अपवित्र निन्दा होने के कारण से भारी काम पड़ने पर भी अकेला कभी पर-गृह में नहीं जाऊँगा।

यह विचार कर, वह बोला कि- हे सेठ! मैं भी तेरे समान ही इस विषय में कुछ नहीं जानता। तब वह बोला कि हे धनमित्र! ऐसा बोलने से कुछ छुटकारा होने वाला नहीं। मैं

राजकुल में जा, न्याय करकर भी तेरे पास से वह लूंगा। तब धनमित्र बोला कि– जो अच्छा लगे, सो करो।

तब सुमित्र ने राजा को जाकर कहा कि– धनमित्र ने मेरी रत्नावली चुराई है। राजा विचार करने लगा कि– यह बात उसमें किसी प्रकार संभव नहीं और यह सुमित्र निश्चय पूर्वक यह बात कहता है, अतः धनमित्र को पूछना चाहिये। यह विचारकर राजा ने उसको बुला कर पूछने पर वह जैसा बना था वैसा कहने लगा। तब राजा विस्मय पाकर बोला कि– हे इभ्य! अब क्या करना चाहिये? वह बोला कि– हे देव! इसने निश्चय रत्नावली ली है। तब धनमित्र बोला कि– हे देव! मैं यह कलंक नहीं सह सकता, अतः आप कहो वैसे दिव्य से मैं इसका विश्वास कराऊँ।

राजा बोला कि– हे इभ्य! क्या तू यह बात स्वीकार करता है, कि– यह धनमित्र लोहे की तपी हुई फाल उठावे। तब उसके हाँ भरने पर राजा ने उसके लिये दिन मुकर्रर किया। पश्चात् वे दोनों अपने-अपने घर आये, अब धनमित्र धर्म में विशेष तत्पर होकर शुद्ध मन से रहने लगा। क्रमशः वह दिन आ पहुँचने पर उसने स्नान करके जिनेश्वर की अष्ट प्रकारी पूजा करी, साथ ही सम्यक्दृष्टि देवों का कायोत्सर्ग किया।

पश्चात् फाल तपाने तथा राजा व नगरलोकों के सन्मुख आ बैठने पर धनमित्र बहुत से नागरिकों के साथ दिव्य स्थान में आ पहुँचा। उक्त इभ्य भी वहां आ पहुँचा। अब धनमित्र ज्यों-ही फाल लेने को उद्यत हुआ, त्योंही उक्त इभ्य की रत्नावली कटी पर से नीचे पड़ी।

तब राजा ने कहा कि– हे इभ्य! यह क्या है? तब वह उदास होकर कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। पश्चात् राजा ने धन-

मित्र को पूछा कि– जिस रत्नावली के लिये तुम्हारी लड़ाई है वह यही है कि नहीं ? तब धनमित्र बोला कि– हे देव ! वह यही है।

किन्तु यहां क्या परमार्थ है सो तो सर्वज्ञ मुनि जाने तब राजाने विस्मय पाकर, वह रत्नावली अपने भंडारी (कोषाध्यक्ष) को सौंपी। धनमित्र के इस भांति शुद्ध होने से उसे भली भांति सन्मान देकर तथा इभ्य को अपने मनुष्यों के सुपुर्द करके राजा अपने स्थान को गया। अब धनमित्र अपने मित्रश्रावकों से परिवारित हो, तीर्थ की उन्नति करता हुआ अपने घर आया।

इतने में वहां गुणसागर केवली का आगमन हुआ, उनको नमन करने के लिये धनमित्र, नागरिक जन तथा परिजन सहित राजा आदि भी वहां गये। राजा ने इभ्य को भी वहां बुला लिया। बाद धर्मकथा सुन समय पाकर राजा के उक्त वृत्तान्त पूछने पर ज्ञानी इस भांति कहने लगे।

यहां विजयपुर नगर में गंगदत्त नामक गृहपति था, उसकी मिष्टभाषिणी किन्तु मायापूर्ण मगधा नामक स्त्री थी। उसने ईश्वर नामक वणिक की संतोषिका नामक स्त्री का एक लाख मूल्य का उत्तम रत्न किसी प्रकार उसके घर में घुसकर चुरा लिया। उसको इसकी खबर पड़ने पर वह मगधा से मांगने लगी, किन्तु मगधा हार न देकर उल्टी गालियां देने लगी। तब संतोषिका ने इस विषय में गंगदत्त को उपालंभ दिया।

गंगदत्त स्त्री के स्नेह से मुग्धचित्त होकर बोला कि–तुम्हारे घर ही के किसी मनुष्य ने चुरा लिया होगा अतः हमको व्यर्थ दोष मत दे। यह सुन वह वणिक स्त्री अपने रत्न के मिलने की आशा टूट जाने से तापस की दीक्षा ले व्यंतर रूप में उत्पन्न हुई। मगधा भी तथा विध कर्म करके मृत्यु को प्राप्त हुई, वह यह

इभ्य हुई है तथा गंगदत्त मरकर यह धनमित्र हुआ है। उस व्यंतरदेव ने अपना व्यतिकर स्मरण करके क्रुद्ध हो इभ्य के तीन पुत्रों को क्रमशः मार डाले हैं।

तब राजा ने इभ्य के सामने देखने पर वह बोला कि-यह बात सत्य है, किन्तु वे क्यों मर गये, उसका कारण तो अभी ही जाना है। पुनः गुरु बोले कि-यह रत्नावली भी उसी व्यन्तर ने हरी थी. व धनमित्र ने पूर्व में दोष दिया था इससे अभी उसे दोष लगा है। किन्तु धनमित्र के धर्म में स्थित स्थिरभाव से प्रसन्न हुए सम्यक्दृष्टि देवों ने उस व्यन्तर को दबा कर यह रत्नावली उससे पटकाई है।

तब राजा बोला कि-अब वह व्यन्तर सुमित्र को और क्या करेगा? तब ज्ञानी बोले कि-इस रत्नावली के साथ वह सुमित्र का सम्पूर्ण धन हरण करेगा, पश्चात् इभ्य आर्त्त ध्यान से मरकर बहुत से भवों में भटकेगा और व्यन्तर का जीव भी नाना प्रकार से वैर लेगा।

यह सुन राजा ने संवेग पाकर, रत्नावली सुमित्र को सौंप, पुत्र को राज्य दे चारित्र ग्रहण किया। धनमित्र भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब सौंप केवली से दीक्षा लेकर क्रम से मोक्ष को गया।

इस प्रकार सदाचारीजनों को हर्ष करने वाला धनमित्र का चरित्र जानकर सन्मार्गी भव्य जनों! यथा तथा रीति से परगृह गमन का वर्जन करो।

इस प्रकार धनमित्र का चरित्र है।

इस प्रकार शीलवान् का परगृहगमनवर्जन रूप दूसरा भेद कहा। अब अनुद्भट वेष रूप तीसरा भेद प्रकट करने के लिये आधी गाथा कहते हैं—

सहइ पसंतो धम्मी – उब्भडवेसो न सुन्दरो तस्स ।

मूल का अर्थ— धर्मी जन सादा होने पर शोभता है, उसको उद्भट वेष अच्छा नहीं लगता।

टीका का अर्थ—धर्मवान याने भाव श्रावक, प्रशांत याने सादे वेष वाला होवे तो शोभे। अतः हलके मनुष्यों को उचित उद्भट वेष उसे सुन्दर नहीं लगता।

लंख के समान नीचे कसता हुआ ओछा पायजामा पहिरना अथवा ऊपर ओछी अंगी पहिरना, वैसे ही पेंच डाल कर फेंटा बांधना यह खिङ्गजनों का वेष कहलाता है। वैसे ही पाटियें डालकर कपाल खुला रखना तथा नाभिप्रदेश खुला रखना तथा आधी कंचुकी (कांचली) पहिर कर पार्श्व खुले रखना यह वेश्या का वेष है।

इत्यादि वेष धार्मिक जन को सुन्दर नहीं लगते याने शोभा नहीं देते। ऐसे वेष से वह उलटा उपहास का पात्र होता है. कारण, कहावत है कि-जिसे श्रृंगार प्यारा होता है वह कामी होता है, तथा वह इस लोक में भी किसी समय अनर्थ पाता है, वंधुमती के समान।

दूसरे आचार्य भी ऐसा कहते हैं कि—

जिससे अंग ठीक तरह से ढंक जावे वैसा नीचे का परिधान तथा स्वच्छ, मध्यम लम्बाई का अंगरखा वा चोली व ऊपर योग्य रीति से पहिरा हुआ उत्तरीय वस्त्र-ऐसा वेष धर्म तथा लक्ष्मी की वृद्धि करता है।

अनुद्भट परिधान वह है कि—पैर तक धोती पहिरना तथा उस पर लगता हुआ अंगरखा वा चोली पहिरना आदि। यह

भी योग्य है; किन्तु वह किसी २ कुल वा किसी २ देश के लिये उचित हो सकता है परन्तु श्रावकों का तो भिन्न २ देशों में रहना संभव है अतः देश व कुल के अविरुद्ध वेष पहिरना, उसकी अनुद्भट ऐसी व्याख्या की जाय तो वह सर्व व्यापक होने से यहां संगत माना जाता है।

वंधुमती का वृत्तांत इस प्रकार है—

यहां ताम्रलिप्ति नामक नगरी थी, जो कि दुश्मनों से सर्व प्रकार से अजीत थी। वहां अति धनाढ्य रतिसार नामक सेठ था। उसकी शरदऋतु के चन्द्रमा समान उज्ज्वल शीलवाली वंधुला नामक स्त्री थी, उसके रूपादि गुण से सुशोभित वंधुमती नामक पुत्री थी।

वह (पुत्री) हाथ में सोने की चूडियां पहिरती, शरीर का शृंगार करती और स्वभाव से ही सदैव उद्भट वेष रखती थी।

एक दिन उसके पिता ने उसको प्रेमपुर्वक वचनों से समझाया कि-हे पुत्री ! ऐसा उद्भट वेष अच्छे मनुष्यों को उचित नहीं है। क्योंकि कहा है कि-कुल और देश से विरुद्ध वेष राजा को भी शोभा नहीं देता, तो वह वणिकों को किस प्रकार शोभे ? जिसमें भी उनकी स्त्रियों को तो कभी नहीं शोभता।

अतिरोष, अतितोष, अतिहास्य, दुर्जनों के साथ सहवास और उद्भटवेष ये पांच बड़ों को लघु बना देते हैं।

इत्यादि युक्तियुक्त वचन कहने पर भी उसने एक न माना, किन्तु पिता की कृपा से मौज करती हुई सदैव वैसी ही रहने लगी। भरूचवासी विमल सेठ के पुत्र वंधुदत्त ने ताम्रलिप्ति में आकर बड़ी धूमधाम से उसका पाणिग्रहण किया।

सहइ पसंतो धम्मी — उब्भडवेसो न सुन्दरो तस्स ।

मूल का अर्थ— धर्मी जन सादा होने पर शोभता है, उसको उद्भट वेष अच्छा नहीं लगता ।

टीका का अर्थ—धर्मवान याने भाव श्रावक, प्रशांत याने सादे वेष वाला होवे तो शोभे । अतः हलके मनुष्यों को उचित उद्भट वेष उसे सुन्दर नहीं लगता ।

लंख के समान नीचे कसता हुआ ओछा पायजामा पहिरना अथवा ऊपर ओछी अंगी पहिरना, वैसे ही पेंच डाल कर फेंटा बांधना यह खिङ्गजनों का वेष कहलाता है । वैसे ही पाटियें डालकर कपाल खुला रखना तथा नाभिप्रदेश खुला रखना तथा आधी कंचुकी (कांचली) पहिर कर पार्श्व खुले रखना यह वेश्या का वेष है ।

इत्यादि वेष धार्मिक जन को सुन्दर नहीं लगते याने शोभा नहीं देते । ऐसे वेष से वह उलटा उपहास का पात्र होता है. कारण, कहावत है कि-जिसे शृंगार प्यारा होता है वह कामी होता है, तथा वह इस लोक में भी किसी समय अनर्थ पाता है, बंधुमती के समान ।

दूसरे आचार्य भी ऐसा कहते हैं कि—

जिससे अंग ठीक तरह से ढंक जावे वैसा नीचे का परिधान तथा स्वच्छ मध्यम लम्बाई का अंगरखा वा चोली व ऊपर योग्य रीति से पहिरा हुआ उत्तरीय वस्त्र-ऐसा वेष धर्म तथा लक्ष्मी की वृद्धि करता है ।

अनुद्भट परिधान यह है कि—पैर तक धोती पहिरना तथा उस पर लगता हुआ अंगरखा वा चोली पहिरना आदि । यह

भी योग्य है, किन्तु वह किसी २ कुल वा किसी २ देश के लिये उचित हो सकता है परन्तु श्रावकों का तो भिन्न २ देशों में रहना संभव है अतः देश व कुल के अविरुद्ध वेष पहिरना, उसकी अनुद्भट ऐसी व्याख्या की जाय तो वह सर्व व्यापक होने से यहां संगत माना जाता है।

वंधुमती का वृत्तांत इस प्रकार है—

यहां ताम्रलिप्ति नामक नगरी थी, जो कि दुश्मनों से सर्व प्रकार से अजीत थी। वहां अति धनाढ्य रतिसार नामक सेठ था। उसकी शरदऋतु के चन्द्रमा समान उज्जवल शीलवाली वंधुला नामक स्त्री थी, उसके रूपादि गुण से सुशोभित वंधुमती नामक पुत्री थी।

वह (पुत्री) हाथ में सोने की चूडियां पहिरती, शरीर का शृंगार करती और स्वभाव से ही सदैव उद्भट वेष रखती थी।

एक दिन उसके पिता ने उसको प्रेमपुर्वक वचनों से समझाया कि-हे पुत्री ! ऐसा उद्भट वेष अच्छे मनुष्यों को उचित नहीं है। क्योंकि कहा है कि-कुल और देश से विरुद्ध वेष राजा को भी शोभा नहीं देता, तो वह वणिकों को किस प्रकार शोभे? जिसमें भी उनकी स्त्रियों को तो कभी नहीं शोभता।

अतिरोष, अतितोष, अतिहास्य, दुर्जनों के साथ सहवास और उद्भटवेष ये पांच बड़ों को लघु बना देते हैं।

इत्यादि युक्तियुक्त वचन कहने पर भी उसने एक न माना, किन्तु पिता की कृपा से मौज करती हुई सदैव वैसी ही रहने लगी। भरूचवासी विमल सेठ के पुत्र वंधुदत्त ने ताम्रलिप्ति में आकर बड़ी धूमधाम से उसका पाणिग्रहण किया।

वह बंधुदत्त बंधुमती को पिता के घर छोड़, बन्धुपरिजन सहित नौकारूढ़ होकर समुद्र में रवाना हुआ। वह कुछ दूर गया होगा कि अशुभ कर्म के उदय से समुद्र में वायु प्रतिकुल होकर तूफान उठा।

जिससे जैसे विनयहीन में शास्त्र नष्ट होता है, अथवा शील-हीन पुरुष को दिया हुआ दान नष्ट होता है, उसी भांति वह धन धान्य परिपूर्ण वहाण भी नष्ट हो गया। इतने में बंधुदत्त को एक पटिया मिल जाने से वह किसी प्रकार समुद्र के किनारे आया व इधर उधर देखने लगा तो उसे वह श्वसुर का नगर जान पड़ा।

तब उसने किसी मनुष्य के द्वारा श्वसुर को संदेशा भेजा, जिसे सुन वह "हाय २ यह क्या हुआ ?" इस प्रकार बोलता हुआ उठ खड़ा हुआ। उसके साथ अति उद्भट वेष व रत्नजड़ित आभूरणों से विभूषित बंधुमती भी चली, वे ज्योंही समीप पहुँचे कि-इतने में उत्तम रत्न और सुवर्ण से जड़ी हुई चूड़ियों से सुशोभित बंधुमती के दोनों हाथ किसी जुआरी चोर ने काट लिये।

पश्चात् वह चोर पकड़े जाने के भय से भागकर शीघ्र मार्ग की थकावट से सोये हुए बंधुदत्त के समीप आ पहुँचा।

उस धूर्त्त चोर ने सोचा कि-यह अवसर है, यह निश्चित कर उक्त काटे हुए दोनों हाथ उसके पास रखकर आप भाग गया। इतने में पीछे से आते हुए कोतवाल की गड़बड़ सुनकर वह जाग उठा। तब उन्होंने उसे चोर ठहरा कर, पकड़ करके शीघ्र ही शूली पर चढ़ा दिया।

अब रतिसार सेठ अपनी पुत्री की यह दशा देखकर बहुत दुःखी हो ज्योंही जामाता के समीप आया तो वहां उसने

उसको शूली से छिदा हुआ देखा, तब उसने बहुत विलाप कर, आंसुओं से नेत्र भर, दुःखित होते हुए उसका मृतकार्य किया।

इतने में वहां सुयश नामक चतुर्ज्ञानी मुनीश्वर का आगमन हुआ, उनको नमन करने के हेतु सेठ वहां आया, तब वे उसे इस भांति धर्म कहने लगे कि—हे भव्यो ! तुम उद्‌भट वेष का वर्जन करो, परुषवाणी को त्याग दो और भव स्वरूप को विचारो, जिससे कि दुःख न पाओ।

यह सुन वैराग्य को प्राप्त हो गुरु को नमन करके पूछने लगा कि—हे भगवन् ! मेरे जामाता व पुत्री ने पूर्व में कौनसा दुष्कृत किया है ? गुरु बोले कि—मनोहर शालिग्राम में एक स्त्री थी, वह अटवी (वन) के समान [1] बहुमृत बालशुका थी, याने उसके बहुत से पुत्र मर गये थे तथा वह दरिद्र व विधवा थी।

वह स्त्री अपने उदर पोषण के हेतु नित्य श्रीमंतों के घर काम करती थी व उसका पुत्र बछड़े चराता था।

वह एक समय पुत्र के लिये सीके में भोजन रखकर किसी के घर काम करने गई, वहां उक्त घर वाले का जामाता आ गया जिससे उसने पहिले तो उसके तर्पण स्नान आदि की खटपट में रोकी और पश्चात् उससे खांडना, पीसना, रांधना, दलना आदि कराया।

जिससे उसे वहां बहुत देर लगी तो भी उस गृहस्थ ने व्याकुलतावश उसे नहीं जिमाई, अतः वह भूखी प्यासी घर आई। उसे देखकर भूखे लड़के ने कठोर वचन से कहा कि—क्या तू वहां शूली पर चढ़ गई थी, कि शीघ्र लौटकर नहीं आई ?

---

[1] अटवी बहुमृत बालशुका याने जिसमें बहुत से पक्षी मर गये हों ऐसा वन।

भ्रमण से मेरे चित्त को भय लगने से उक्त भय को नष्ट करने के लिये हे नरेश्वर! मैंने यह दीक्षा ली है।

यह सुन राजा ने भयंकर भव से अतिशय भयभीत होकर अपने पुत्र चन्द्र को राज्य सौंपकर उपशम का साम्राज्य (प्रव्रज्या) ग्रहण किया। चंद्र राजा ने भी उक्त राज्यलक्ष्मी से सुशोभित होकर सम्यक्त्व पूर्वक गृहीधर्म अंगीकार किया। पश्चात् वह गुरु चरण में नमन करके अपने स्थान को आया और मुनीश्वर भी परिवार सहित अन्य स्थल में विचरने लगे।

एक समय मित्रसेन ने राजा को एकान्त में कहा कि—हे मित्र! तुझे मैं कुछ अपूर्व विज्ञान बताता हूँ। उसने उत्तर दिया, अच्छा, तो जल्दी बता तब व शृगालों का शब्द इस प्रकार निकालने लगा कि—जिसे सुन शृगाल चिल्लाने लगा।

व उसने मुर्गे का स्वर निकाला कि जिससे मुर्गे बोल उठे और मध्य रात्रि होते हुए भी प्रातःकाल समझकर मनुष्य जाग उठे। व इस प्रकार शृंगार युक्त वाक्य बोला कि दृढ़ शीलवान व्यक्ति को भी काम जाग उठे।

तब राजा बोला कि-हे मित्र! इस प्रकार तू अपने व्रत को अतिचार से मलीन मत कर, क्योंकि शीलवान पुरुषों को विकारी वचन बोलना उचित नहीं। ऐसा कहने पर भी जब कुतूहलवश वह शृंगार युक्त वाणी बोलते बन्द न हुआ, तब राजा ने उसकी उपेक्षा की।

उसने एक दिन एक स्त्री के सम्मुख, जिसका कि पति विदेश गया था, ऐसे विकारी वाक्य कहे कि जिससे वह तत्काल काम से विह्वल हो गई। उसे ऐसी विकारयुक्त देखकर उसका देवर

अतः हे मित्र अब भी जिनेश्वर देव तथा सुसाधु गुरु का स्मरण कर दुष्कृत की गर्हा कर व समस्त जीवों को खमा। तब वह बोला कि—हे मित्र ! मैं गाढ़ बन्धन से पीड़ित हो गया हूं अतः मैं कुछ भी स्मरण नहीं कर सकता. इसलिये मेरी कुछ औषध (भेषज) की व्यवस्था कर ।

इस प्रकार बोलता हुआ, वह मरकर विंध्याचल में हाथी हुआ, वहां से बहुत से भव भ्रमण करके मोक्ष पावेगा । विकार युक्त वचन रूप समुद्र का शोषण करने में अगस्त्यऋषिसमान चन्द्र राजा पुत्र को राज्य सौंपकर, दीक्षा ले मोक्ष को गया । इस प्रकार पापहीन पंडितों ने अपने चित्त से मित्रसेन का चरित्र जानकर महान् दुःखदायक सविकार भाषण त्यागना चाहिये।

इस प्रकार मित्रसेन की कथा है।

इस प्रकार शीलवानजन का सविकार-वचन-वर्जनरूप चौथा शील कहा; अब बालक्रीड़ा-परिहार रूप पांचवा शील कहने के हेतु आधी गाथा कहते हैं।

बालिसजनकीला वि हु मूलं मोहस्स णत्थदंडाओ ।

मूल का अर्थ—बाल क्रीड़ा भी अनर्थदंड युक्त होने से मोह की मूल है। बालिश जन क्रीड़ा याने बाल जनों से की जाने

वाली जूआ आदि क्रीड़ा भी नहीं खेलना चाहिये।

कहा भी है कि—

चार रंग वाले पासे वा पटली का खेल, वर्त्तक लावक के युद्ध याने तीतर आदि पक्षियों की लड़ाई के खेल तथा पहेलियों द्वारा प्रश्नोत्तर और यमक पूर्ति आदि न करना चाहिये।

विकारयुक्त भाषण तो दूर रहे किन्तु खेल भी नहीं करना चाहिये। यह अपि शब्द का अर्थ है। "हु" अलंकारार्थ है—क्योंकि-यह मोह का चिह्न है, क्योंकि यह अनर्थदंड रूप है और निरर्थक आरम्भ प्रवृत्ति करने से यहाँ भी अनर्थ होता है, जिनदास के समान। उसकी कथा इस प्रकार है—

श्रेणिक राजा रूप राजहंस से सुशोभित राजगृह नगर रूप कमल में गुप्तिमति नामक एक परिमल के समान पवित्र इभ्य था। उसको ऋषभदत्त नामक एक जगद्विख्यात पुत्र था। दूसरा जिनदास नामक जुगारी पुत्र था, वह नित्य द्रव्य-नाशक जूआ खेलता था, तब उसके बड़े भाई ने उसे प्रीतिपूर्वक यह कहा कि— हे भाई! शरीर और स्वजनादिक के कारण जो करना पड़ता है सो अर्थदंड है और उससे अन्य (प्रतिकूल) सो अनर्थदंड है। वह बहुत बंध का कारण कहा हुआ है।

क्योंकि कहा है कि—

अर्थ से उतना पाप नहीं बंधता, जितना कि अनर्थ से बंधता है-क्योंकि अर्थ से थोड़ा करना होता है और अनर्थ से बहुत हो जाता है क्योंकि अर्थ में तो काल आदि नियामक रहता है परन्तु अनर्थ में कुछ भी नियामक नहीं।

उसमें देवगुरु का भय नहीं रहता तथा कार्य – अकार्य का विचार नहीं रहता और जो शरीर को शोषण करने वाला व दुर्गति का मार्ग है, ऐसा जूआ कौन खेले ? इस प्रकार समझाने पर भी उसने जूआ खेलना नहीं छोड़ा, तब उसने स्वजन सम्बन्धियों के समक्ष कहकर उसे घर आने को रुकवाया।

अन्य दिन किसी जुआरी के साथ खेलते लड़ाई होने से उसने निष्ठुरता से जिनदास को छुरा मारा, जिससे वह घाव से विह्वल होकर रोता हुआ रंक की भांति भूमि पर गिर पड़ा, तब स्वजनों ने उसके भाई को कहा कि– वह दया करने के योग्य है।

तब वह भी करुणा से प्रेरित हो, कोमल बनकर उसे कहने लगा कि– हे भाई ! तू स्वस्थ हो – मैं तेरा प्रतिकार करूंगा। तब जिनदास विनय पूर्वक बोला कि– हे आर्य ! मेरे अनार्य आचरण को तू क्षमा कर, मैं परलोक में जाने की तैयारी में हूँ, अतः भाता दे। तब सेठ बोला कि– हे भाई ! तू सब विषयों से ममता रहित हो, सर्व जीवों से क्षमा मांग और चतुःशरण ले। साथ ही बाल-क्रीड़ा की निन्दा कर, चित्त में पञ्च परमेष्ठि मंत्र का स्मरण

ार और भयंकर संसार के भय का नाश करने वाला अनशन ले।

इस प्रकार से सम्यक् रीति से अनशन लेकर पाप का त्याग कर, जिनदास मरकर जंबुद्वीप का अधिपति अणाढिओ नामक देवता हुआ।

इस प्रकार बालक्रीड़ा करने वाले जिनदास की हुई दुर्दशा को देखकर भव से भयातुर हे भव्यों! उस विषय को निवृत्ति करो।

इस प्रकार जिनदास की कथा है।

इस भांति शीलवान् जनों का बालक्रीड़ा परिहार रूप पांचवा भेद कहा। अब परुषवचनाभियोग वर्जन रूप छठ्ठा शील कहने के लिये आधी गाथा कहते हैं—

फरुसवयणाभियोगो न संमओ शुद्धधम्माणं।

मूल का अर्थ—परुष वचन से आज्ञा देना यह शुद्ध धर्म वाले को उचित नहीं।

टीका का अर्थ—अरे दरिद्र! दासी पुत्र! इत्यादि कठोर वचन से अभियोग याने आज्ञा करना उचित नहीं—(किसको सो कहते हैं) शुद्ध धर्मी को याने जैन धर्म पालने वाले को, क्योंकि उससे धर्म को हानि तथा लाघव होता है। उसमें धर्म की हानि इस प्रकार कि—

कठोर वचन से उस दिन का तप नष्ट हो जाता है, अधिक्षेप (आक्रोश) करने से मास भर का तप नष्ट होता है, शाप देने से वर्ष भर का तप नष्ट होता है और मारने पीटने से श्रमणत्व का नाश हो जाता है।

परुष वाणी बोलने से लोगों में धर्म की लघुता भी होती है, क्योंकि लोग हंसते हैं कि—देखो! ये धार्मिक पर-पीड़ा—परिहारी

सदैव कर्कश बोलने वाले का परिवार उसको ओर विरक्त हो जाता है और उससे उसकी सत्ता निर्बल पड़ जाती है तथा अपने परिवार को शिक्षा न देने से उसका नायक म्लान हो जाता है. अतः नित्य प्रति कोमल भाषा में शिक्षा देकर कुटुम्ब परिवार को शिक्षित करना चाहिये।

माधुर्यता लाना स्वाधीन है, वैसे ही मधुर शब्दों वाले वाक्य भी स्वाधीन ही हैं, तो फिर साहसी पुरुष किसलिये परुष वचन बोलें ?

इसी कारण से श्री वर्द्धमानस्वामी ने महाशतक श्रावक को सत्य किन्तु परुष वचन बोलने पर प्रायश्चित ग्रहण कराया।

मतान्तर से याने कि अन्य आचार्यों के मत से अदुराराध्यता नामक छठा शील है वह भी अपरुष भाषण में आ जाता है। (क्योंकि सुख से जो सेवन किया जा सके वह अदुराराध्य कहलाता है और वह जब मिष्टभाषी हो तभी हो सकता है)

महाशतक का वृत्तान्त यह है—

राजगृह नगर रूप सरोवर का विभूषण महाशतक नामक गृहपति था। वह कमल जैसे श्रीनिलय भ्रमर हित (भ्रमर को हितकारी) नालस्य पद (नाल का स्थान) होता है वैसे ही श्रीनिलय (लक्ष्मीवान्) भ्रम रहित व आलस्यहीन था। उसके पास चौवीस कोटि धन था। जिसमें आठ कोटि निधान में, आठ कोटि व्याज

में और आठ कोटि व्यापार में काम आता था और उसके पास दस-दस सहस्र गायों वाले आठ गोकुल थे।

उसके रेवती आदि तेरह स्त्रियां थीं, उसमें रेवती को पिता की ओर से आठ कोटि धन मिला था व अस्सीहजार गायें मिली थीं, शेष अन्य स्त्रियों को एक २ कोटि धन और दस २ हजार गायों का एक २ गोकुल पितृगृह से मिला था।

वहां गुणशील चैत्य में महावीरजिन का समवसरण हुआ, उनको वन्दन करने के लिये नगरवासियों के साथ महाशतक गया। वह जिनेश्वर को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया. तब भगवान अमृतश्रोत के समान सुन्दर धर्म कहने लगे कि—

इस संसार में दुर्लभ गृहिधर्म पाकर श्रावक ने सदैव उसकी विशुद्धि ज्वलंत करने के लिये इस भांति दिनचर्या पालना चाहिये। जैसे कि सोकर उठते ही श्रावक ने प्रथम भली भांति पंच नवकार मंत्र का स्मरण करना, पश्चात् अपनी जाति, कुल, देव, गुरु और धर्म की विचारणा करना।

पश्चात् छः प्रकार का आवश्यक करके दिन ऊगने पर स्नानादिक करके श्वेत वस्त्र पहिर, मुखकोश बांधकर गृह में स्थित प्रतिमा का पूजन करना। पश्चात् प्रत्याख्यान करके जो ऋद्धिवन्त श्रावक हो तो उसने धूमधाम से जिनमंदिर में जाकर वहां शास्त्रोक्त विधि से प्रवेश करना।

वहां जिनपूजा तथा जिनवन्दन करने के अनंतर सुगुरु के समीप जाना वहां उनका विनय संपादन करके प्रत्याख्यान प्रकट करना (अर्थात् पुनः लेना) पश्चात् भली भांति वहां धर्म श्रवण करके, घर आकर शुद्ध वृत्ति याने न्यायपूर्वक व्यापार आदि करना, पुनः मध्याह्न काल में जिनेश्वर की पूजा करना।

पश्चात बहुबीज और अनन्तकाय वर्जित भोजन करना, उसके बाद चैत्यवंदन करके गुरु को वन्दना कर दिवसचरिम का पच्चक्खाण ले लेना, तदनंतर कुशल बुद्धिमान मित्रों के साथ शास्त्र के रहस्यों का विचार करना, इस प्रकार मुख्यवृत्ति से एक ही समय भोजन करना परन्तु कदाचित एक भक्त नहीं किया जा सके तो दिन के आठवें भाग में खा लेना।

संध्या होने पर गृहस्थित प्रतिमाओं की पूजा व वंदन करके आवश्यक कर एकाग्र चित्त से स्वाध्याय करना। पश्चात् घर आकर अपने कुटुम्ब परिवार को उचित धर्म सुनाना व बने जहां तक विषय से विरक्त ही रहना अन्यथा पर्वदिवसों में तो शील पालन करना ही।

पश्चात् चतुःशरण गमनादि करके सावद्य का त्याग कर गंठसी लेकर नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए कुछ देर निद्रा लेना। नींद खुलते ही विषय सुख को विषम विष के समान विचारते हुए तथा स्वर्ग और शिवपुर जाते हुए रथ समान मनोरथ करना।

मुझे भवो भव श्री अरिहंत देव हों, सम्यग् ज्ञान व चारित्र संपन्न सुसाधु गुरु हों व जिनभाषित तत्व हो। मैं श्रावक के गृह में जिनधर्म की वासना वाला चाकर होऊं सो अच्छा है, परन्तु जिनधर्म से रहित होकर कभी चक्रवर्ती राजा भी न होऊं।

मैं मल मलीन शरीर पर पुराने, मैले कपड़े धारण कर सर्व संग त्याग करके मधुकर के समान गोचरी करके मुनि का आचार

कब पाऊंगा ? मैं कुशील का संगत्याग करके गुरु के पद्पंकज की रज को स्पर्श करता हुआ योग का अभ्यास करके संसार का उच्छेद कब करूंगा ? मैं वन में पद्मासन से बैठा रहूँगा, मेरी गोद में हिरन के बच्चे आ बैठेंगे और समूह के सरदार बड़े हरिण मुझे कब आकर सूंघेंगे ?

मैं मित्र व शत्रु में, मणि व पत्थर में, सुवर्ण व मिट्टी में वैसे ही मोक्ष और भव में भी समान मति रख कर कब फिरूंगा ? इस प्रकार नित्य-क्रिया करता हुआ निरभिमानी मनुष्य गृहवास में रहते भी सिद्धि सुख को समीप लाता है ।

यह सुनकर महाशतक आनन्द के समान गृहि-धर्म अंगीकृत कर, प्रसन्न होता हुआ अपने घर आया और स्वामी भी अन्य स्थल में विचरने लगे । इसका सहवास होते हुए भी पापिष्ठ रेवती को प्रतिबोध नहीं हुआ । क्योंकि वह मद्यरस व मांस में गृद्ध थी तथा क्षुद्र व धन में अति लुब्ध थी ।

उसने अति विषय गृद्धि से पागल हो कर एक समय छः सपत्नियों को शस्त्र प्रयोग से और छः सपत्नियों को विष प्रयोग से मार डाला । पश्चात् उनका द्विपद, चतुष्पद तथा धन माल आदि अपने स्वाधीन कर अनेक प्राणियों की हिंसा करती हुई सदैव क्रूर होकर रहने लगी ।

जब अमारि पड़ह बजने पर उसे मांस न मिल सका तब उसने अपने गोकुल में से दो बछड़े मरवाकर मंगवाये थे । अब चवदह वर्ष के अंत में महाशतक श्रावक अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर, विरक्त चित्त हो, पौषध शाला में आया ।

इतने में रेवती मद्यपान से मत्त हो कर वहां आकर हाव भाव और विलास आदि से महाशतक को बहुत बार उपसर्ग करती, तथापि वह महात्मा वह सब भली भांति सहन करता था। इस प्रकार उसने सम्यक् रीति से श्रावक की एकादश प्रतिमाएं पूर्ण की पश्चात् अपना अंतिम समय समीप आया जान कर उसने विधिपूर्वक अनशन किया।

शुभभाव वश उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह उत्तर दिशा के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में लवण समुद्र में हजार योजन पर्यन्त देखने लगा। उत्तर दिशा में हिमवत् पर्वत पर्यन्त और नीचे रत्नप्रभा के लोलुप नामक नरक पर्यन्त चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारक जीवों को देखने लगा।

इतने में वह पापिनी रेवती मदोन्मत्त होकर वहां आकर दुःसह (कामरूप) रागाग्नि से संतप्त हो उसे उपसर्ग करने लगी।

तब महाशतक ने विचार किया कि— यह ऐसी क्यों हो रही है ? तब उसने अवधिज्ञान से उसका सकल चरित्र तथा नरकगामीपन जान लिया। जिससे जरा कुपित हो कर वह बोला कि— हे पापिनी, नीच, निर्लज्ज ! अभी भी तू कितना पाप उपार्जन करेगी ? क्योंकि आज से सातवीं रात्रि में तू अलसिया की व्याधि से मर कर लोलुप नरक में उत्पन्न होनेवाली है। यह सुन कर रेवती का मद उतर गया और वह विचारने लगी कि— आज मुझ पर महाशतक अति-कुपित हुआ है जिससे तथा मृत्यु के भय से कांपती हुई, दुःखित मन से वह अपने घर आई।

इतने में वहां पधारे हुए वीरप्रभु ने गौतम को कहा कि— हे वत्स ! तू जाकर मेरे वचन से महाशतक को कह कि— हे भद्र !

उत्तम गुणवान् श्रावकों को परुषवचन बोलना अनुचित है, अनशन में तो विशेष कर पर-पीड़ाकारी वचन कदापि न बोलना चाहिये, अतः तू अपने दुर्भाषण का प्रायश्चित ले। तब गौतमस्वामी उक्त बात स्वीकार करके वहां आये। उनके वहां आकर प्रभु का संदेश कहने पर महाशतक ने वैराग्य पाकर गौतमस्वामी को वन्दना करके उक्त अतिचार की आलोचना की।

पश्चात् उसने प्रायश्चित स्वीकार किया, तब गौतमस्वामी वहां से प्रभु के पास आये। तत्पश्चात् महाशतक समाधिस्थ हो, वीर प्रभु के चरण कमल को स्मरण करता हुआ साठ भक्त का छेदन कर, विधी पूर्वक मर कर, सौधर्म देवलोकान्तर्गत अरुणाभ विमान में चार पल्योपम के आयुष्य से देवता हुआ। वहां से च्यवन कर महाविदेह में जन्म ले सुन्दर देह प्राप्त कर चारित्र लेकर महाशतक का जीव अपरुषभाषी रहकर मुकित पावेगा।

इस भांति महाशतक के परुष वाक्य बोलने पर प्रभु ने गौतम गणधर के द्वारा उससे आलोचना कराई। यह स्पष्टतः समझ कर हे निर्मल शीलवान् पुरुषों! तुम उस कारण से अमृत समान मधुर और संगत (उचित) वचन बोलो।

इस प्रकार महाशतक का वृत्तान्त है।

परुष वचन से आज्ञा न देना, यह छट्ठा शील कहा, उसके पूर्ण होने पर भाव श्रावक का शीलवान् पन रूप दूसरा लक्षण समाप्त हुआ, अब गुणवान पन रूप तीसरा लक्षण कहने के संबंध में गाथा कहते हैं--

जइवि गुणा बहुरूवा तहावि पंचहि गुणेहिं गुणवंतो।
इह मुणिवरेहिं भणिओ सरूवमेसिं निसामेहि ॥४२॥

मूल का अर्थ--गुण यद्यपि बहुत प्रकार के हैं तो भी यहां मुनीश्वरों ने पांच गुणों से गुणवान् कहा है, उनका स्वरूप (हे शिष्य !) तू सुन !

टीका का अर्थ—यद्यपि यह पद अभ्युपगमार्थ है, जिससे यह अर्थ होता है कि-हम स्वीकार करते हैं कि-गुण बहुरूप अर्थात् बहुत प्रकार के औदार्य, धैर्य, गांभीर्य, प्रियंवदत्व आदि हैं, तथापि यहां भाव-श्रावक के विचार में गीतार्थों ने पांच गुणों से गुणवान माना है, उनका स्वरूप अर्थात् वास्तविक तत्त्व सुन यहां सुन यह क्रियापद शिष्य को जागृत करने के लिये है जिससे यह बताया गया है कि-प्रमादी शिष्य को प्रेरणा करके सुनाना स्वरूप कहते हैं-

सज्झाए[1] करणंमि य[2] विणयंमि य[3] निच्चमेव उज्जुत्तो ।
सव्वत्थणभिनिवेसो[4] वहइ रूइं सुट्ठु जिणवयणे[5] ॥ ४३ ॥

मूल का अर्थ— स्वाध्याय में, क्रियानुष्ठान में और विनय में नित्य उद्युक्त रहे तथा सर्वत्र सर्व विषयों में कदाग्रह रहित रहे और जिनागम में रुचि रखे। शोभन अध्ययन सो स्वाध्याय अथवा स्व याने आत्मा उसके द्वारा अध्याय सो स्वाध्याय, उसमें नित्य उद्युक्त रहे, तथा करण अर्थात् अनुष्ठान में और विनय अर्थात् गुरु आदि की ओर अभ्युत्थान आदि करने में नित्य - सदा उद्युक्त याने प्रयत्नवान् रहे. इन वाक्यों को तीनों में जोडने से तीन गुण हुए।

तथा सर्वत्र इस भव के और परभव के प्रयोजनों में अनभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह रहित होकर समझदार होना चौथा गुण है और जिन वचन अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम में सुष्ठु

अर्थात् मजबूत रुचि—इच्छा—अर्थात् श्रद्धान धारण करे सो पांचवा गुण है।

इस प्रकार गणना से पांचों गुण बताकर अब उनका भावार्थ द्वारा विवेचन करने के हेतु प्रथम स्वाध्याय भी आधी गाथा से कहते हैं—

पढणाई सज्झायं वेरग्गनिबंधणं कुणइ विहिणा।

मूल का अर्थ—विधिपूर्वक वैराग्यकारक पठन आदि स्वाध्याय करे।

टीका का अर्थ- पठन अर्थात् अपूर्व श्रुत ग्रहण — आदि शब्द से प्रच्छन, परावर्तन, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ग्रहण करना चाहिये उसका यह अर्थ है कि- पांचों प्रकार का स्वाध्याय करे। स्वाध्याय कैसा सो कहते हैं- वैराग्य निबंधन याने वैराग्य का कारण — विधि पूर्वक अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से श्रेन श्रेष्ठि के समान।

वहां पठन विधि इस प्रकार है:—

गुरु के पास सीखते समय पर्यस्तिका (पलाठी), अवष्टंभ (ओठींगण), पाद प्रसारण और विकथा व हास्य का वर्जन करना।

पृच्छा-पूछने की विधि यह है कि—आसन या शय्या में रहकर नहीं पूछना, किन्तु आकर उत्कुटुकासन से बैठ कर हाथ जोड़ कर पूछना चाहिये।

परावर्त्तन की विधि यह है कि- श्रावक ने ईर्यावही प्रतिक्रमण कर, सामायिक कर, ठीक-ठीक मुंह ढांक कर निर्दोषता से पद-च्छेद पूर्वक सूत्र गिनना।

अनुप्रेक्षा अर्थात् अर्थचिंतन, उसकी विधि यह है कि- जिन-आगम समझाने में कुशल गुरु के पूर्व श्रवण किये हुए वचन से एकाग्र मन रख चित्त में सूत्र श्रुत के विचारों का चिन्तवन करना।

धर्म कथा की विधि यह है कि– गुरु के प्रसाद से जो शुद्ध धर्मोपदेश यथा रीति समझा हो व अपने को और दूसरों को जो उपकारक हो वह केवल धर्मार्थी होकर योग्य जन को कहना।

श्येन सेठ की कथा यह है––

यहां कंचन से चकचकित चैत्य गृह (जिनमंदिर) से सुशोभित कांची नामक नगरी थी। वहां श्येन नामक सेठ था और उसकी कुवलयमाला नामक स्त्री थी। उनके तीन पुत्र थे, उस सेठ के घर एक दिन मासक्षमण के पारणे चतुर्ज्ञानी साधु भिक्षा के लिये आये।

तब सेठ सत्तू का थाल लेकर शीघ्र ही उनको वहोराने के लिये उठा, यह देख मुनि बोले कि–इसमें सूक्ष्म जीव हैं, अतः मुझे नहीं कल्पता। सेठ बोला कि–इसका क्या निश्चय है ? तब मुनि ने लाल रंग से रंगे हुए रूई के फोहे उसके आसपास रखवाकर, उस उपाय से उसमें उन्होंने उस सत्तू ही के वर्ण के सूक्ष्म जंतु बता दिये।

तब सेठ तीसरे दिन का दही उन्हें देने लगा, उसमें भी मुनि ने उसी प्रकार जीव बताये। तब सेठ ने उनके सन्मुख लड्डुओं से भरा हुआ थाल रखा।

उसे देख मुनि बोले कि–ये विष मोदक हैं, सेठ बोला कि–किस प्रकार ? मुनि बोले कि–हे सेठ ! देखो ! इस पर जो मक्खी बैठती है वह मर जाती है।

तब सेठ विस्मित होकर बोला कि–इसमें विष किसने मिलाया सो कहिये। तब वे महान् साधु बोले कि कल तुम्हारी जो दासी मर गई है उसने मिलाया है।

सेठ ने पूछा कि– ऐसा उसने किसलिये किया होगा? साधु बोले कि– तुमने तथा तुम्हारे कुटुम्ब ने मिलकर अमुक अपराध में उसे तर्जना की थी। जिससे उसने तुम्हारे लिये ये विष-युक्त लड्डु बनाये और अपने लिये विष रहित दो लड्डू बनाये।

पश्चात् उसने अति क्षुधातुर हो जल्दी में वे विषयुक्त लड्डू ही खा लिये, जिससे वह तत्क्षण मर गई।

इस थाल में वे दो विष-रहित लड्डू पड़े हैं और अन्य सब विषयुक्त हैं, इसीसे ये मुझे नहीं कल्पते। जो किसी प्रकार तुमने सकुटुम्ब ये लड्डू खा लिये होते तो तुम धर्म रहित अशरणता से मर जाते। तब श्येन सेठ धर्म पूछने लगा, तब मुनि बोले कि– भिक्षा के लिये आया हुआ धर्म नहीं कह सकता। यह कह वे अपने स्थान को चले गये।

अब मध्याह्न के समय सेठ सकुटुम्ब साधु के पास जा, नमन करके धर्म पूछने लगा और वे साधु इस भांति कहने लगे–

जैसे हाथियों में ऐरावण उत्तम है, देवताओं में इन्द्र उत्तम है, पर्वतों में मेरु उत्तम है, वैसे ही सर्व धर्मों में दान, शील, तप, भावना रूप चार प्रकार का जिन-धर्म उत्तम है। उसमें भी निकाचित कर्म रूप घास को हरने के लिये मेघ समान तप ही उत्तम है। तप में स्वाध्याय उत्तम है।

कहा है कि–कोई किसी भी योग में उपयुक्त रहता हुआ खुशी के साथ समय समय से असंख्य भव के पापों का क्षय करता और स्वाध्याय में उपयुक्त रहा हुआ उससे भी अधिक भवों के का क्षय कर सकता है। केवली भाषित छः अभ्यंतर और छः मिलकर बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय समान कोई तप नहीं है और न होगा ही।

क्योंकि-स्वाध्याय से प्रशस्त ध्यान रहता है और सर्व परमार्थ जाना जा सकता है व उसमें लगे रहने से क्षण - क्षण में वैराग्य प्राप्त होता है। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्‌लोक, नरक, ज्योतिषी, वैमानिक तथा सिद्धि आदि सकल लोक, अलोक स्वाध्याय करने वाले को प्रत्यक्ष के समान रहते हैं।

यह सुन प्रसन्न हो श्येन सेठ सम्यक् रीति से गृही-धर्म स्वीकार कर तथा स्वाध्याय का अभिग्रह लेकर मुनि को नमन कर अपने घर आया। पश्चात् वह सदैव धर्म-कार्य में रत रहकर उत्तम स्वाध्याय करता रहा। इस प्रकार समय पाकर उसके पास बहुत-सा धन हो गया तथा पुत्र, पौत्रादिक सन्तान बढ़ी। अब बहुतसी बहुएं होने से वे परस्पर किसी प्रकार कटकट करने लगीं और उनके कहने से पुत्र भी स्नेह-हीन हो कलह करने लगे।

उनको कलह करते देख सेठ ने अलग कर दिया। तब उन्होंने सेठ के रहने का जो मुख्य घर था वह मांगा, तो उसने वह भी उनको दे दिया। अब उसको सेठानी कहने लगी कि- तुम द्रव्य सहित अपना घर पुत्रों को देकर अब किस प्रकार निर्वाह करोगे? तब सेठ बोला कि- जिसके मन रूप क्यारे में जिन - धर्म रूप कल्पतरु विद्यमान है, उसे घर, धन वा अन्य कुछ किस गिनती में हैं?

तब सेठानी उसे कहने लगी कि- ठीक, तो अब सिर मुंडा कर भीख मांगो और श्मशान, देवालय वा सुनसान घरों में रहो। सेठ बोला कि-हे सुतनु! धीरज रख, यह भी समय आने पर करूंगा, किन्तु अभी तो तुझे इस लोक में धर्म का कैसा प्रभाव है सो बताता हूँ। यह कह कर वह तत्काल अपने मित्र मंत्री के

पास जाकर कुटुम्ब का सब वृत्तान्त कहकर उससे एक घर मांगने लगा।

तब मंत्री बोला कि—मेरे एक घर है किन्तु वह सदोष है अर्थात् उसमें व्यंतर के घुस जाने से वह उजड़ पड़ा है, जिससे उसमें कोई भी नहीं रहता। अतः जो धर्म के प्रभाव से व्यन्तर तुझे कोई पराभव न करे तो खुशी से ले तब श्येन सेठ तुरन्त शकुन ग्रंथि बांधकर उस घर में आया।

वह निसीही बोल, अनुज्ञा ले घर के अन्दर आ ईर्यावही प्रतिक्रमण करके इस प्रकार स्वाध्याय करने लगा। हे जीव! गज-सुकुमाल, मेतार्यमुनि तथा स्कंधक सूरि के शिष्य आदि के साधुओं के चरित्र स्मरण करता हुआ, इतने ही में क्यों कोप करता है?

जो महा सत्त्ववान् होते हैं वे प्राण जाते भी कोप नहीं करते और तू ऐसा हीनसत्व है कि—वचन मात्र से भी क्रुद्ध होता रहता है। हे जीव! जीवों को सुख दुःख होने में दूसरा तो निमित्त मात्र है, अतः अपने पूर्व कृत्य का फल भोगते हुए तू दूसरे पर किसलिये व्यर्थ कुपित होता है?

अहो! अहो! मोह से मूढ़ हुए जीव वैभव व घर में मूर्छित होकर पुत्र व मित्रों को भी मार डालते हैं और चतुर्गति रूप संसार में रखड़ते हैं इस प्रकार उसने रात्रि के दो प्रहर पर्यंत वहां स्वाध्याय किया इतने में व्यंतर उसे सुन हर्षित होकर कहने लगा कि—

मैं इस संसार समुद्र में डूब रहा था, किन्तु तूने मुझे के समान तारा है; मैं देवता हूँ और मैंने ही इस घर को

किया है। पश्चात् श्येन के पूछने पर वह व्यंतर बोला कि–हे भद्र! पूर्व में मैं इस घर का स्वामी था और मेरे दो पुत्र थे।

उनमें से छोटा पुत्र मुझे अधिक प्रिय था, जिससे मैंने संपूर्ण गृह का सार उसे दिया और बड़े पुत्र को थोड़ा सा माल देकर अलग घर में रखा। तब मेरे बड़े पुत्र ने दर्बार में फर्याद करके एकाएक मुझे मरवा डाला और छोटे भाई को कैद में डलवा कर यह घर उसने स्वयं अधिकार में लिया।

छोटा भाई कैदखाने में मर गया और मैं मरकर यहां व्यन्तर हुआ, जिससे मैंने अपने ज्ञान से बड़े पुत्र को यह कार्यवाही जान ली। जिससे मैंने कोप करके बड़े पुत्र को उसके परिवार सहित मार डाला और दूसरा भी यहां जो रात्रि में रहता तो मैं उसे मार डालता था।

किन्तु इस समय तेरा स्वाध्याय सुनकर मैं प्रतिबोधित हुआ हूँ, और अपने मन का बैर मैंने त्याग दिया है अतः तू मेरा गुरु है जिससे यह निधान सहित घर मैं तुझे देता हूँ। पश्चात् निधि स्थान बताकर तत्काल वह देवता अदृश्य हो गया तदन्तर सेठ ने यह बात राजा तथा मंत्री आदि को कही।

तब राजा विस्मित हुआ तथा मंत्री व स्वजन सम्बन्धी लोग प्रसन्न हुए तथा पुत्र भी शान्त हुए और सेठानी भी धर्म में तत्पर हुई। इस प्रकार अंतरंग रिपु की सेना को जीतकर श्येन सेठ ने चिरकाल गृहिधर्म का पालन कर, प्रव्रज्या ले अनुक्रम से शाश्वत पद प्राप्त किया।

इस प्रकार श्येन सेठ सदैव स्पष्ट शुद्ध भाव से स्वाध्याय में लीन रहकर सकल अर्थ प्राप्त कर सका अतएव विवेक रूप

चन्द्र को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान स्वाध्याय में निरन्तर प्रयत्न शील होओ।

इति श्येन श्रेष्ठी कथा

गुणवंत लक्षण के स्वाध्याय करना यह प्रथम भेद कहा। अब करण नामक दूसरे भेद का वर्णन करने के लिये आधी गाथा कहते हैं।

तवनियमवंदणाई-करणंमि य निच्चमुज्जमइ ॥४४॥

मूल का अर्थ—तप, नियम और वन्दन आदि करने में नित्य उद्यमवन्त रहे।

टीका का अर्थ- तप, नियम, वन्दन आदि के करण में अर्थात् आचरण में चकार से कारण (कराना) और अनुमोदन में भी नित्य प्रतिदिन प्रयत्नशील रहे।

वहां तप, अनशन आदि बारह प्रकार के हैं, क्योंकि कहा है कि—

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, इस प्रकार छः प्रकार का बाह्य तप है। प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय, यह छः प्रकार का अभ्यंतर तप है।

नियम याने साधु की सेवा करने का; तपस्वी के पारणे में तथा लोच करने वाले मुनि को घी आदि देने के विषय में (अभिग्रह)। क्योंकि कहा है कि—

मार्ग में चलकर थके हुए, ग्लान, आगम का अध्ययन करने वाले, लोच करने वाले, वैसे ही तपस्वी साधु के उत्तरपारणे दिया हुआ दान बहुत फलवान होता है।

वंदना अर्थात् प्रतिमा तथा गुरु का वंदन, आदि शब्द से जिन-पूजा लेना चाहिये उनके करने में नित्य उद्यमवंत रहे। नन्द सेठ के समान।

नन्द सेठ की कथा इस प्रकार है-

गंधगुलिका जैसे शुभवास और आमोद युक्त होती है, वैसे ही सुखवास (सुख से बसी हुई) और मोदयुक्त (आनन्द पूर्ण) मथुरापुरी नामक नगरी थी। वहां अति धनाढ्य और शांतस्वभाव नन्द नामक सेठ था। उसकी नन्दश्री नामक लोभिणी और क्रोध-युक्त स्वभाव वाली स्त्री थी। उनके उदार चित्त और सदैव भक्ति करने वाले चार पुत्र थे।

वहां अतिशय ज्ञानी, क्षमादि गुण की खानि और निष्परिग्रही शिष्य परिवार सहित संगम नामक सूरि पधारे। उनको नमन करने के लिये अनेक नगरवासियों को जाते देख नन्द भी वहां आकर बैठा। तब सूरि इस प्रकार धर्म कहने लगे-

पंच महाव्रत पालन रूप यतिधर्म सबसे उत्तम है, किन्तु उसे जो जीव नहीं कर सकते हैं, उन्हें गृहि-धर्म उचित है। यह सुनकर नन्द सेठ प्रसन्न हो गृहि-धर्म अंगीकृत करके अपने को कृतार्थ मानता हुआ अपने घर आया।

पश्चात् एक समय वह गुरु को पूछने लगा कि- हे स्वामिन्! इस धन से क्या पुण्य हो सकता है? तब सूरि यह वचन बोले- चतुर जन इस बाह्य, अनित्य, असार, परवश और तुच्छ धन को सात क्षेत्रों में व्यय करके उसमें से अक्षय शिवसुख प्राप्त करते हैं।

यह सुन सेठ प्रसन्न हो गुरु को नमन करके अपने घर आया. पश्चात् उसने अपने द्रव्य से विधि पूर्वक एक सुन्दर जिन-मन्दिर

भोजन नहीं करूंगा। इस प्रकार शुद्ध मन से दुष्कर तप नियम में लीन व नित्य जिन-पूजा में उद्यत, वैसे ही मुनि-जन को वंदन करने में तत्पर रहकर उसने बहुत सा काल व्यतीत किया।

पूर्व कर्म के वश एक समय उसका वैभव चला गया, जिससे वह अपने स्वजन सम्बन्धी जनों व सेवकों को अप्रिय होगया।

पवित्र वृत्ति (आचार) होते हुए वित्त (धन) चला जाने से उसके पुत्र भी उसकी निन्दा करने लगे, स्त्री भी अवहेलना करने लगी तथा बहुएँ भी कटकट करने लगीं।

पुत्र कहने लगे कि- अरे महा मूढ बुड्ढे! तू ज्यों-ज्यों जिन धर्म करता है, त्यों-त्यों भयानक दारिद्य रूप वृक्ष तेरे घर में फल रहे हैं।

तब वह महात्मा बोला कि- ऐसी असमंजस (अन समझी) बात न बोलो, क्योंकि-सब कोई पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल भोगते हैं। इस प्रकार युक्तिपूर्वक उसके पुत्रों को समझाते हुए भी उन्होंने क्रोध से संतप्त होकर नीति मार्ग को तोड़ नन्द सेठ को अपने से अलग कर दिया।

तो भी वह महाभाग नन्द सेठ अकेला होकर रहते भी लेश-मात्र खिन्न न होकर घर के एक कोने में रहकर पूर्व की भांति ही धर्म में लीन रहता था। वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में विधिपूर्वक

स्वाध्याय व आवश्यक करता और दिन के प्रथम प्रहर में आगम के रहस्य को विचारता। दूसरे प्रहर में समीप के ग्राम में जाकर सद् व्यवहार पूर्वक मिर्च मसाला बेचकर वह भोजन के योग्य धन उपार्जन करता।

पश्चात् घर आ नहा-धोकर पवित्र हो अपने जिनभवन में जा कर सुगन्धित द्रव्यों से जिनेन्द्र की पूजा करके चैत्यवंदन करता।

इसके अनन्तर सम्यक् रीति से कर्म विपाक जानता हुआ वह अपने हाथ से रसोई तैयार करता व जीमकर, विचार कर विधि पूर्वक संवरण याने दिवस चरिम का प्रत्याख्यान ले लेता पश्चात् संध्या के समय अपना वीर्य गोपन किये बिना आवश्यकादि क्रिया करता. इस भांति नंद सेठ निश्चयतः प्रतिदिन दिनकृत्य करता।

अब एक समय भव्य जनों को आनन्द देने वाले अष्टाह्निका (आठ दिन तक रहने योग्य) महोत्सव आने पर वह उपवास करके जिन मंदिर को गया. इतने में वहां बैठी हुई एक मालिन ने उसको तीक्ष्ण सुगन्धि युक्त फूलों की चौलड़ी माला दी. तब वह बोला कि-इसका मूल्य क्या है?

वह बोली कि-हे आनन्दरूपी समुद्र बढ़ाने में चन्द्र समान नंद सेठ! मूल्य की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आप की कृपा ही से हमारा यह ठाठमाठ चलता है. ऐसा कहने पर भी उसने उक्त मौरुले (जाति विशेष) के फूल नहीं लिये. तब मालिन ने विनय पूर्वक उसका मूल्य आधा रुपया कहा।

तब फूल का मूल्य लेकर हर्षित हो उक्त चौलड़ी पुष्पमाला लेकर जिन मंदिर में जा भक्ति पूर्वक जिनेंद्र की अर्चा करने लगा.

पश्चात् जिनेश्वर को पूजन व नमन करके अन्य वन्दन करने वाले लोगों के स्वस्थान को चले जाने पर नंद सेठ विधिपूर्वक देव को वंदन करके इस प्रकार स्तवन करने लगा।

जिन स्तुति

हे स्वामिन्! हे जिनवर! आप की जय हो आप केवलज्ञान से वस्तु का परमार्थ जानते हो आप मस्तक पर धारण की हुई मणियों की किरणों से दीप्तिमान सैकड़ों इन्द्रों द्वारा नमित हो। आप के शरीर को मल रोग नहीं होते, आप का भामंडल चन्द्र समान दीप्तिमान है, आप लयप्राप्त ध्यान से शोभित हो, आप सकल सत्त्वों को हितकारी हो।

अपार भव समुद्र में लाखों भव भटकते भी दुर्लभ आपका दर्शन पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ, चक्रवर्ती–असुरराजा तथा विद्याधरों की लक्ष्मियां मिलना सुलभ है, किन्तु हे प्रभु! आपके कहे हुए तपश्चरण तथा नियम रूप ऋद्धि मिलना दुर्लभ है।

हे देव! आपकी पूजा दारिद्य दुःख की नाशक है, सुख उत्पन्न करने वाला है, दुःखों को नष्ट करने वाली है और जीवों को संसारसमुद्र पार उतारने में नौका समान है. हे त्रिभुवन प्रभु! आपके चरणकमल का वंदन चंदन के समान है, उसे प्राप्त करके, भव संताप का शमन करके भव्य जन शान्ति प्राप्त करते हैं।

हे स्वामिन्! आप अपूर्व कल्पतरु हो अथवा अपूर्व चिंतामणि हो, क्योंकि–हे प्रभु! आप अनिश्चित स्वर्ग मोक्ष का सुख देते हो. देवेन्द्र, मुनीन्द्र और नरेन्द्रों से वंदित हे जिनेन्द्र! मेरे मनको आप अपनी निर्मल आज्ञा का पालन करने में लोलुप करिये।

इस प्रकार उसने स्तुति की, इतने में वहां संगमसूरि पधारे,

उसने विनय पूर्वक उनके चरणों को नमन किया। तब उन्होंने पूछा कि–हे सेठ ! तेरी ऐसी अवस्था कैसे हुई।

वह बोला कि– हे भगवन् ! आप भी ऐसा कहते हो ? मैं तो यही मांगता हूँ कि– जहां तक मेरे मन में अचित्य चिंतामणी समान धर्म विद्यमान है, तब तक कुछ भी न्यूनता नहीं। तो भी मेरे मूढ चित्त स्वजन सम्बन्धी जिनप्रवचन से विरुद्ध और अनन्तसंसार रूप तरु के मूल ऐसे वचन बोला करते हैं, जिससे मुझे बड़ा विषम दुःख होता है।

इतने में ब्रह्मशांति यक्ष प्रत्यक्ष होकर बोला कि-मैं तेरे महान् भक्ति साहस के गुण से संतुष्ट हुआ हूँ, अतः वर मांग। वह बोला कि– मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। यक्ष पुनः बोला कि–तथापि कुछ तो मांग। तब वह बोला कि– तो मेरे उक्त (पुष्प-माला वाले) आधे रुपये का फल दे।

तब यक्ष अवधिज्ञान से देखकर कहने लगा कि-तुझे मैं चाहे जितने लाख द्रव्य दे दुँ तो भी आधे रुपये में उपार्जित पुण्य का मैं पार नहीं पा सकता। यह सुन सेठ विस्मित होकर बोला कि–हे यक्ष ! तू प्रसन्नता से अपने स्थान को जा, मुझे जिन धर्म के प्रभाव से कभी भी कुछ कमी नहीं हुई।

यक्ष बोला कि–हे सेठ ! यद्यपि तू निरीह है, तथापि तेरे पुत्र आदि को सन्मार्ग में लाने के लिये मेरा एक वचन मान तब सेठ के हां करने से वह बोला कि-मेरे इस घर के चारों कोनों में बड़े २ निधान गड़े हुए हैं, उन्हें तू ले लेना, यह कहकर यक्ष अपने स्थान को गया और सेठ भी अपने घर आया।

तब से वह धर्म में विशेष लीन रहने लगा उसे देखकर उसकी दुष्टचित्त स्त्री कहने लगी कि, हे मूर्खशिरोमणि ! व्यर्थ

की धमाधम करके क्यों यों ही मरता है ? तथा पुत्र कहने लगे कि–रे निर्मर्याद बुड्ढे ! अभी भी तू धर्म की हठ नहीं छोड़ता, इसका क्या कारण है ? हे हताश ! (अभागे) क्या तू हमको जीवित ही नहीं देख सकता ?

सेठ बोला कि–तुम इस प्रकार असार धन के कारण मुक्ति व स्वर्ग के दाता धर्म की निंदा क्यों करते हो ? तब वे बोले कि–हमको मुक्ति और स्वर्ग नहीं चाहिये, हमको तो मात्र धन ही चाहिये, क्योंकि–उससे सर्व अनहोते गुण भी प्रकट होते हैं।

क्योंकि कहा है कि, " लक्ष्मी के होने पर अनहोते गुण भी मान्य किये जाते हैं, और लक्ष्मी के चले जाने पर ऐसा जान पड़ता है, मानो सभी गुण उसी के साथ चले गये हैं लक्ष्मी की जय हो "

तथा कहा है कि- जाति, रूप और विद्या गहरी गुफा में जावें, हमारे पास तो केवल धन जमा हो कि–जिससे सब गुण अपने आप ही मान लिये जावेंगे। तब सेठ बोला कि–जो तुम धन के अर्थी हो तो भी धर्म का ही पालन करो, क्योंकि–यह प्राणीयों को कामधेनु के समान है।

क्योंकि कहा है कि–"धर्म धनार्थी को धन देता है, कामार्थी को काम की पूर्ति करता है, सौभाग्यार्थी को सौभाग्य देता है, अधिक क्या ? पुत्रार्थी को पुत्र देता है, राज्यार्थी को राज्य देता है, अधिक विकल्पों का क्या काम है ? थोड़े में कहा जाय तो ऐसी वस्तु ही कौनसी है जो धर्म नहीं दे सकता ? तथा वह स्वर्ग और मोक्ष भी देता ही है।"

अन्यत्र भी कहा है कि–धन चाहता हो तो धर्म कर, क्योंकि–धर्म से धन होता है और धर्म का चितवन करते जो मर जायगा, तो दोनों में से एक भी प्राप्त न होगा।

वे बोले कि- हे पिता ! जो तू यहीं पर हमको कुछ प्राप्तकर दे, तो हम धर्म करते हैं। तब सेठ बोला कि- हां, तब तो मैं शीघ्र दूँगा।

तब वे धन मिलने की लालसा से नंद सेठ के साथ जिन-मंदिर आदि में जाते तथा साधुओं को नमन करते थे। पश्चात् वे लोभी होकर कहने लगे कि-वह धन कहां है ? तब सेठ ने घर का एक कोना खुदवाकर उनको सुवर्ण का कलश बताया।

इस प्रकार अंतराय कर्म का क्षय होने से चारों कलशों के प्राप्त होने पर वे पूर्व की भांति ऋद्धि पात्र हो गये व जिनधर्म पर प्रीतिवान् हुए अब उसने स्वजन संबंधियों को गुरु से गृही-धर्म अंगीकृत करवाया और स्वतः मुक्ति सुख देने वाली दीक्षा ग्रहण की।

वह मूल व उत्तर गुण सहित रहकर स्वाध्याय व आवश्यक की क्रिया में तत्पर रहता हुआ दुःखकंद को निर्मूल करके परमपद को प्राप्त हुआ। इस प्रकार नित्य करण में उद्यत रहने वाला नंद सेठ को दोनों लोकों में प्राप्त हुआ सुख सुनकर सकल दुःख रूप वृक्ष को (काटने में) कुठार समान, नित्य करण में। हे भव्य-जनों ! तुम प्रयत्न करते रहो।

इस प्रकार नन्द सेठ की कथा है।

गुणवन्तलक्षण का करण रूप दूसरा भेद कहा, अब तीसरा विनय रूप भेद प्रकट करने के हेतु आधी गाथा कहते हैं—

अब्भुट्ठाणाइयं विणयं नियमा पउंजइ गुणीणं।

मूल का अर्थ —गुणी जनों की ओर अभ्युत्थान आदि विनय अवश्य करना चाहिये।

टीका का अर्थ—सन्मुख उठना सो अभ्युत्थान, वह आदि सो अभ्युत्थानादि कहलाता है आदि शब्द से संमुख जाना इत्यादि समझना चाहिये क्योंकि कहा है कि—

देखते ही उठकर खड़ा होना, आते देखकर उनके सन्मुख जाना, तथा मस्तक पर अंजली बांधना हाथ जोडना और स्वतः अपने हाथ से आसन देना, इस भांति विनय करना चाहिये। गुरुजन के बैठने के बाद बैठना, उनको वन्दन करना, उनकी उपासना करना और जावे तब पहुँचाने जाना, इस भांति आठ प्रकार से विनय होता है।

ऐसा विनय अर्थात् प्रतिपत्ति नियम से याने निश्चय से करना चाहिये (किसकी सो कहते हैं) गुणी याने विशेष गौरव रखने योग्य हों उनकी पुष्पसालसुत के समान।

पुष्पसालसुत की कथा इस प्रकार है—

मगध देशान्तर्गत गुब्बर ग्राम में पुष्पसाल नामक गृहपति था और भद्रा नामक उसकी स्त्री थी। उनको स्वभाव ही से विनय करने में उद्यत पुष्पसालसुत नामक पुत्र था उसने एक दिन धर्म-शास्त्र पाठक के मुंह से सुना कि-

विघटिततम वाले अर्थात् ज्ञानवान् उत्तम जनों का जो निरन्तर विनय करता है वह उत्तम गुण पाकर सर्वोत्तम स्थान पाता है। यह सुन कर वह रात्रि दिवस महान् भक्ति से माता पिता का यथा योग्य विनय करने लगा।

उसने एक समय अपने मातापिता को ग्राम के
का विनय करते देखा, उसे देख वह विचार करने ल
ग्राम का स्वामी मातापिता से भी उत्तम जान पड़ता है,
वह उसकी सेवा करने लगा।

राजा बोला कि—ये तो इंद्र, चन्द्र तथा नागेन्द्र जिनके चरणों को नमन करते हैं, ऐसे समकाल ही में सकल जीवों के सकल संशयों के हरने वाले, हर व हास्य के समान श्वेत यश परिमल से त्रैलोक्य को सुगन्धित करने वाले, भोग की अपेक्षा से रहित, अति तीव्र तपश्चरण से अर्थसिद्धि प्राप्त करने वाले, सिद्धार्थ राजा के कुल रूप विशाल नभस्तल में सूर्य समान, मान रूप हाथी को दूर भगाने में केशरीसिंह समान वीर जिनेश्वर पधारे हैं।

यह सुनकर वह हर्षित हो, श्रेणिक राजा के साथ भगवान के पास आया। प्रभु को नमन कर, हाथ में तलवार धारण कर कहने लगा कि—हे प्रभु! आपकी सेवा करूंगा, तब भगवान बोले कि—हे भद्र! हमारी सेवा मुखवस्त्रिका और धर्मध्वज (रजोहरण) हाथ में लेकर की जाती है।

तब उसने वैसा ही स्वीकृत करके प्रभु से दीक्षा ली और विनयरूप सिद्धरसायन करके कल्याण का भागी हुआ। इस प्रकार अत्यन्त लाभकारी पुष्पसालसुत का उत्तम वृत्तान्त सुनकर हे जनों! तुम शुद्ध मन से विनय करने में तत्पर होओ।

इस प्रकार पुष्पसालसुत की कथा है।

विनय रूप तीसरा भेद कहा, अब अनभिनिवेशरूप चौथा भेद वर्णन करने के लिये शेष आधी गाथा कहते हैं।

अणभिनिवेसो गीयत्थ-भासियं नन्नहा मुणइ ॥ ४१ ॥

मूल का अर्थ—अनभिनिवेशी हो, वह गीतार्थ की बात को सत्य करके मानता है।

टीका का अर्थ—अनभिनिवेश अर्थात् अभिनिवेश रहित

किन्तु शंख अभी तक क्यों नहीं आये ? तब पुष्कली श्रावक बोला कि– मैं जाकर उसे बुला लाऊं तब तक तुम विश्राम करो यह कहकर वह शंख के घर आया उसे आता देखकर उत्पला उठी व सात आठ कदम उसके सन्मुख आई।

पश्चात् वन्दना करके आसन पर बैठने की निमंत्रणा की, और आगमन का प्रयोजन पूछने लगी तब वह बोला कि हे भद्रे ! शंख के सदृश निर्मल शंख कहां है ? वह बोली कि– वे तो पौषधशाला में पौषध लेकर बैठे हैं। तब उसने पौषधशाला में जाकर गमनागमन आदि ईर्यावही प्रतिक्रमण किया।

पश्चात् हर्ष पूर्वक शंख को वन्दना करके पुष्कली बोला कि–हे भद्र ! अशन-पान तैयार हो गया है, अतः आप शीघ्र पधारिये। शंख बोला कि– मैंने तो पौषध लिया है अतः तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। यह सुन पुष्कली अन्य श्रावकों के पास आया।

उसने आकर शंख की बात कही, तब उन श्रावकों ने किंचित् अभिनिवेश करके भोजन किया। इधर शंख रात्रि के अंतिम प्रहर में विचारने लगा कि–मैं प्रातःकाल वीर प्रभु को वन्दना करके धर्म श्रवण कर पौषध पारूंगा।

अब सूर्योदय होते ही शंख अक्षुब्ध वासना से पैदल चल कर वीरप्रभु के चरणों में नमन करने गया। व वीर को नमन करके बैठा इतने में अन्य श्रावक भी वहां आये और वे भी जिन को नमन करके बैठ गये तब भगवान इस प्रकार धर्म कहने लगे।

अहो ! भवितव्यता के योग से यह मनुष्य भव पाकर तुमको सकल क्लेशों का कारण अभिनिवेश कदापि न करना चाहिये।

अनभिनिवेशरूप चौथा भेद कहा, अब जिनवचनरुचि रूप पांचवा भेद कहते हैं।

सवण-करणेसु इच्छा-होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता ।
एईइ विणा कत्तो सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ॥ ४६ ॥

मूल का अर्थ—सुनने में और करने में श्रद्धापूर्वक इच्छा सो रुचि है वैसी रुचि विना सम्यक्त्व-रत्न की शुद्धि कहां से हो ?

टीका का अर्थ—श्रवण याने सुनना और करण याने अनुष्ठान इन दोनों में इच्छा अर्थात् तीव्र अभिलाषा सो रुचि है वह भी श्रद्धानसंयुक्त याने प्रतीति सहित होना चाहिये। जयंति श्राविका के समान।

इस रुचि की प्रधानता बताने के हेतु कहते हैं कि- इस दो रूपवाली रुचि के अभाव से सम्यक्त्व-रत्न की शुद्धि किससे हो ? सारांश यह कि-किसी से भी नहीं होती क्योंकि-सम्यक्त्व सुश्रूषा और धर्मराग रूप ही है, क्योंकि-ये दोनों सम्यक्त्व के साथ प्रकट होने से लिंग रूप से प्रसिद्ध है।

कहा भी है कि—

सुश्रूषा, धर्मराग और यथाशक्ति गुरु-देव के वैयावृत्य में नियम ये सम्यग् दृष्टि के लिंग हैं। इस प्रकार पांचवें गुण की व्याख्या है। अन्य पुनः पांच गुण इस प्रकार कहते हैं।

सूत्ररुची अर्थरुचि, करणरुचि, अनभिनिवेशरुचि और पांचवीं अनिश्रितोत्साहता इन पांच गुणों से गुणवान होता है।

यहां भी सूत्ररुचि, वाला पठनादिक स्वाध्याय में प्रवृत्ति करता है, अर्थरुचिवाला गुणीजनों का अभ्युत्थानादि विनय करता

अनभिनिवेशरूप चौथा भेद कहा, अब जिनवचनरुचि रूप पांचवा भेद कहते हैं।

सवण-करणेसु इच्छा-होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता।
एईइ विणा कत्तो सुद्धी सम्मत्तरयणस्स॥ ४६॥

मूल का अर्थ—सुनने में और करने में श्रद्धापूर्वक इच्छा सो रुचि है वैसी रुचि बिना सम्यक्त्व-रत्न की शुद्धि कहां से हो?

टीका का अर्थ—श्रवण याने सुनना और करण याने अनुष्टान इन दोनों में इच्छा अर्थात् तीव्र अभिलाषा सो रुचि है वह भी श्रद्धानसंयुक्त याने प्रतीति सहित होना चाहिये। जयंति श्राविका के समान।

इस रुचि की प्रधानता बताने के हेतु कहते हैं कि- इस दो रूपवाली रुचि के अभाव से सम्यक्त्व-रत्न की शुद्धि किससे हो? सारांश यह कि-किसी से भी नहीं होती क्योंकि-सम्यक्त्व सुश्रूषा और धर्मराग रूप ही है, क्योंकि-ये दोनों सम्यक्त्व के साथ प्रकट होने से लिंग रूप से प्रसिद्ध है।

कहा भी है कि—

सुश्रूषा, धर्मराग और यथाशक्ति गुरु-देव के वैयावृत्य में नियम ये सम्यग् दृष्टि के लिंग हैं। इस प्रकार पांचवें गुण की व्याख्या है। अन्य पुनः पांच गुण इस प्रकार कहते हैं।

सूत्ररूची अर्थरुचि, करणरुचि, अनभिनिवेशरुचि और पांचवीं अनिश्रितोत्साहता इन पांच गुणों से गुणवान होता है।

यहां भी सूत्ररुचि, वाला पठनादिक स्वाध्याय में प्रवृ करता है, अर्थरुचिवाला गुणीजनों का अभ्युत्थानादि विनय

वह श्राद्ध में श्रमणों को प्रथम शय्यातरी (स्थान देने वाली) प्रसिद्ध है। अब वहां सिद्धार्थ राजा के पुत्र वीर-स्वामी पधारे।

उक्त त्रिभुवननाथ को नमन करने को उत्सुक हो जयन्ती स्वजन-परिजन सहित वहां आई; वह भक्ति में सारे विश्व से अधिक थी। वह शुभरुचि व सुमति जयन्ती वीर-जिन को नमन कर उदयन राजा को आगे करके इस प्रकार प्रभु का उपदेश सुनने लगी–

मनुष्य-जन्मादिक उदार सामग्री पाकर महान् कर्म रूप पर्वत का भेदन करने के लिये वज्र समान उत्तम सत्क्रियारुचि करो। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, इन नव तत्वों में सदैव रुचि करो।

वहां जीव चेतन रूप से एकविध है; त्रस स्थावर रूप से द्विविध है; स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप से त्रिविध है; देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच रूप से चतुर्विध है; पांच इन्द्रियों से पंचविध और छः काय से षड्-विध है।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति. ये पांच स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय. ये चार त्रस हैं। इस प्रकार सब मिलाने से नव विध जीव हैं।

एकेन्द्रिय दो जाति के–सूक्ष्म और बादर – पंचेन्द्रिय दो जाति के-संज्ञि और असंज्ञि–तथा द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मिलकर सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त. इस प्रकार चवदह भेद हैं।

सूक्ष्म व बादर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा अनंतवनस्पति प्रत्येक वनस्पति, तीन विकलेंद्रिय, संज्ञि, असंज्ञि, पंचेन्द्रिय. ये सोलह पर्याप्त व सोलह अपर्याप्त मिलकर बत्तीस प्रकार के जीव होते हैं। ये बत्तीस शुक्लपाक्षिक और बत्तीस कृष्णपाक्षिक अथवा भव्य व अभव्य गिनें तो चौंसठ प्रकार के जीव होते हैं अथवा कर्म प्रकृतियों के भेद से अनेक प्रकार के जीव माने जाते हैं।

अजीव पांच हैं — धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल. जिनमें प्रथम चार अक्रिय व अरूपी हैं और पुद्गल रूपी हैं। उनके भेद, लक्षण, संस्थान, प्रमाण और अल्पबहुत्व से क्रमशः तीन-तीन, तीन, एक और चार इस भांति चउदह भेद हैं।

धर्मास्तिकाय रूप सम्पूर्ण द्रव्य सो स्कंध, उसका अमुक विवक्षित भाग सो देश और छोटे से छोटा अविभाज्य भाग सो प्रदेश। इस भांति अधर्म और आकाश के भी तीन भेद जानो।

काल निश्चय से गिनें तो, भाव परावृति का हेतु अर्थात् पदार्थों के नये जूनेपन का हेतु एक ही है। व्यवहार से गिनें तो, सूर्य की गति से माना जाने वाला समय आदि अनेक प्रकार का है।

व्यवहारिक काल के भेद इस प्रकार हैं – समय, आवलिका मुहूर्त, दिवस, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गल परावर्त्त।

पुद्गल का समूह याने स्कंध, देश, प्रदेश तथा परमाणु ऐसे पुद्गल के चार भेद हैं। परमाणु वह सूक्ष्म होता है और उसको दो स्पर्श, एक वर्ण, एक रस तथा एक गंध होती है। यह भेद द्वार हुआ, अब लक्षण द्वार कहते हैं—

गति परिणत पुद्गल और जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है। वह जलचर जीवों को जिस तरह जल सहायक है, उसी तरह गमन करने में सहायक है। स्थिति परिणत पुद्गल और जीव की स्थिति में सहायक अधर्मास्तिकाय है। वह पथिकों को घनी तरु छाया के समान स्थिर रहने में सहायक है।

सब का आधार, सब में व्याप्त और अवकाश देने वाला आकाश है और भावपरावृत्ति लक्षण से अद्धा द्रव्य (काल) जानो।

छाया, आतप, अंधकार आदि पुद्गलों का लक्षण यह है कि—वे उपचय, अपचय पाने वाले हैं, लिये छोड़े जा सकने वाले हैं। रस, गंध, वर्ण आदि वाले हैं इत्यादि।

लक्षण द्वार कहा, अब संस्थान द्वार कहते हैं—

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक के आकार वाले हैं। काल वर्त्तना रूप संस्थान रहित है – वह द्रव्य का पर्याय है तो भी उपचार से द्रव्य माना जाता है। अलोकाकाश शुपिर वर्तुल गोल आकार वाला है और लोकाकाश वैशाख स्थित (चौड़े पग करके खड़े हुए) और कमर पर हाथ रखने वाले मनुष्य के समान है। अचित महास्कंध लोक के आकार वाला और आठ समय पर्यंत रहने वाला है शेष पुद्गल अनेक आकार के हैं और उनकी संख्याती असंख्याती स्थिति होती है।

इस प्रकार संस्थानद्वार कहा, अब प्रमाणद्वार कहते हैं—

धर्म, अधर्म और लोकाकाश एक जीव के प्रदेश समान हैं। काल द्रव्य एक है, पुद्गल के और अलोक के प्रदेश अनंत हैं।

प्रमाणद्वार कहा, अब अल्पबहुत्व कहते हैं—

काल एक गणना से सबसे अल्प संख्या का हुआ। लोक, धर्म, अधर्म, ये तीनों असंख्यप्रदेशी समान है, पुद्गल और अलोकाकाश ये दो अनन्त प्रदेशी हैं।

अल्पबहुत्व कहा, अब भावद्वार कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश और काल पारिणामिक भाव में हैं, पुद्गल औदयिक व पारिणामिक दोनों भाव में हैं और जीव सर्व भावों में हैं। भाव छः हैं—दो प्रकार का औपशमिक, नव प्रकार का क्षायिक, अट्ठारह प्रकार का क्षायोपशमिक, इक्कीस प्रकार का औदयिक और तीन प्रकार का पारिणामिक है तथा छठा सांनिपातिक भाव है। पहिले में सम्यक्त्व और चारित्र है, दूसरे में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा दान, लाभ, भोग-उपभोग, वीर्य और सम्यक्त्व ये नौ हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच दानलब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संजमासंजम ये अट्ठारह तीसरे भाव में हैं।

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्ध पणु और असंयम ये इक्कीस चौथे भाव में हैं।

पांचवें भाव में जीव, अभव्यता, भव्यता आदि है। इस भांति पांच भावों के त्रेपन भेद हैं। सुखहेतु कर्मप्रकृति पुण्य कहलाता है और दुःख हेतु कर्म प्रकृति पाप कहलाता है। वहां पुण्य के ४२ भेद हैं और पाप के ८२ भेद हैं, वे इस क्रम से हैं—

तिर्यंचायु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, तीर्थंकर नाम, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस दशक, शुभविहायोगति, शुभ वर्णचतुष्क, मनुष्य,

प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान, निर्माण नाम, आतप नाम, नरत्रिक, सुरत्रिक, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, अगुरुलघु नाम, उद्योत नाम, पांच शरीर, तीन अंगोपांग. इस प्रकार ४२ पुण्य प्रकृति हैं। यह पुण्य तत्त्व कहा।

स्थावर दशक, नरकत्रिक, शेष संघयण, शेष जाति, शेष संस्थान, तिर्यक्द्विक, उपघात नाम, अशुभ विहायोगति, अप्रशस्त वर्ण-चतुष्क, ज्ञानावरण पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरण नौ, नीचगोत्र, असाता वेदनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और पच्चीस कषाय. ये ८२ पाप प्रकृति हैं। यह पाप तत्त्व कहा।

जीव में जिससे समय-समय भव भ्रमण हेतु कर्म का आश्रव-आगमन हो याने भरे सो आश्रव. उसके ४२ भेद हैं--

पांच इन्द्रिय, पांच अव्रत, तीन योग, चार कषाय और २५ क्रिया. इस प्रकार ४२ आश्रव हैं।

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही जीवहिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह, ये पांच अव्रत हैं। अप्रशस्त मन, वचन, तन ये तीन योग हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं और पचीस क्रियाएँ वे ये हैं-

कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी, आरंभिकी, परिग्रहिकी, माया प्रत्ययिकी, मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी, दृष्टिकी, पृष्टिकी, प्रातीत्यकी, सामंतोपनिपातनिकी, नैशस्त्रिकी, स्वाहस्तिकी, आज्ञापनिकी, विदारणिकी, अनाभोगिकी, अनवकांक्षाप्रत्ययिकी, अन्याप्रयोगिकी, सामुदानिकी, प्रेमिकी, द्वेपिकी तथा इर्यापथिकी।

इनका संक्षेप में यह अर्थ है--

अयतना वाले शरीर से होवे वह कायिकी (१), पशुवध

आदि में प्रवृत्त होने से अथवा खड्ग आदि चलाने से हो सो अधिकरणिकी (२), जीव अजीव पर प्रद्वेष लगने से हो सो प्राद्वेषिकी (३), निर्वेद (खेद) करने से तथा क्रोधादि से स्वपर को परिताप करने से होय सो पारितापनिकी (४), प्राणातिपात करने से होय सो प्राणातिपातिकी (५), कृष्यादिक आरंभ से होय सो आरंभिकी (६), धान्यादिक परिग्रह से होय सो परिग्रहिकी (७) माया याने पर वंचन से बने सो माया प्रत्ययिकी (८), जिन-वचन के अश्रद्धान से बने सो मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी (९), अविरति से होवे सो अप्रत्याख्यानिकी (१०), कौतुक वश देखने से होवे सो दृष्टिकी (११), राग द्वेष से जीवाजीव का स्वरूप पूछने से या राग से घोड़े आदि की पीठ पर हाथ फेरने से होय सो पृष्टिकी वा स्पृष्टिकी (१२), जीवाजीव की प्रतीत्य - आश्रित्य कर्म बांधने से प्रातीत्यिकी (१३), बैल घोड़े आदि को देखने के लिये चारों ओर से आये हुए व प्रशंसा करते लोगों को देखकर प्रसन्न होने से अथवा खुले रखे हुए बरतन में चारों ओर से गिरते हुए त्रस जीवों से बने सो सामंतोपनिपातनिकी (१४), राजा आदि की आज्ञा से सदैव यंत्र शस्त्र चलाने से होय सो नैशस्त्रिकी (१५), श्वान आदि जीव से या शस्त्रादिक अजीव द्वारा शशक (खरगोश) आदि को मारते होवे सो स्वाहस्तिकी (१६), जीवा-जीव को आज्ञा देने से या मंगाने से होय सो आज्ञापनिकी अथवा आनयनिकी (१७), जीवाजीव का छेदन करने से होय सो विदारणिकी (१८), अनुपयोग से वस्तु लेने देने से होय सो अनाभोगिकी (१९), इहलोक परलोक विरुद्ध आचरण से होय सो अनवकांक्षप्रत्ययिकी (२०), दुःप्रणिहित मन, वचन, काया, रूप योग से होय सो प्रायोगिकी (२१), जिससे आठ कर्मों का समुपादान होय सो सामुदानिकी (२२), माया और लोभ से होय

सो प्रेमिकी (२३); क्रोध व मान से होय सो द्वेषिकी (२४) और कषाय रहित केवलज्ञानी को केवल काययोग से होने वाले बंधवाली सो ईर्यापथिकी (२५)।

आश्रव तत्त्व कहा, अब संवर तत्त्व कहते हैं—

बन्द दरवाजे वाले घर में धूल प्रवेश नहीं करती और तालाब में पानी प्रवेश नहीं करता, इसी भांति बन्द किये हुए आश्रव रूपी द्वार वाले जीव में भी पाप मल प्रवेश नहीं करता। अतः अशुभ आश्रव को रोकने का जो हेतु उसे यहां संवर कहा है। वह अनेक प्रकार का है, तथापि यहां वह सत्तावन भेद माना जाता है।

बावीस परिषह, पांच समिति, तीन गुप्ति, बारह भावना, पांच चारित्र और दस यति-धर्म, इस प्रकार ५७ भेद हैं।

क्षुधा, पिपासा (तृषा), शीत, घाम, दंश, अल्प वस्त्र, रति, स्त्रियां, चर्या (मुसाफरी), नैषिधिकी (कटासन), दर्भ शय्या, आक्रोश, वध, भिक्षावृत्ति, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व, ये बावीस परीषह हैं। ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पांच समिति हैं, मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति, ये तीन गुप्तियां हैं।

बारह भावनाओं की भावना करना, वे ये हैं—अनित्य, अशरण, चतुर्गति भव स्वरूप, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक स्वरूप, जिन धर्म सुष्ठु भाषिता और अति दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न।

पांच चारित्र ये हैं — सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय और पांचवां यथाख्यात।

सामायिक सावद्ययोग की विरती को कहते हैं। वह दो प्रकार का है— इत्वर और यावत्कथिक। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के

तीर्थ में प्रथम इत्वर होता है। वह उनके तीर्थ में जिनको अभी व्रतारोपण न हुआ हो, वैसे शिष्यों को होता है, वह थोड़े समय का है। शेष तीर्थों तथा महाविदेह में यावत्कथिक होता है।

जहां पर्याय काटने में आवे और व्रत में उपस्थापन हो, वह छेदोपस्थापनीय है।

वह दो प्रकार का है—निरतिचार और सातिचार। शैक्ष – नव दीक्षित को अथवा तीर्थांतर में संक्रम करते निरतिचार होता है और मूल गुण का भंग करने वाले को सातिचार होता है। वह दो प्रकार का छेदोपस्थापनीय स्थित कल्प में गिना जाता है।

स्थितास्थितकल्प इस प्रकार है--

अचेलकपन, औद्देशिक, शय्यातरपिंड, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रतकल्प, ज्येष्ठकल्प, प्रतिक्रमण, मास-कल्प और पर्युषणा-कल्प, (ये दश कल्प गिने जाते हैं) उनमें अचेलकल्प, औद्देशिक कल्प, प्रतिक्रमण, राजपिंड, मासकल्प, और पर्युषणाकल्प, ये छः अस्थित कल्प हैं।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के तीर्थ में अचेल धर्म है; मध्य के तीर्थंकरों के तीर्थ में अचेल तथा सचेल दोनों होते हैं। यहां प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों की ओर अमुक एक मुनि को उद्देश करके जो आहार आदि तैयार किया हो, वह अन्य सबको नहीं कल्पता। बीच के तीर्थंकरों की ओर जिसको उद्देश करके किया हो, वह उसीको सिर्फ नहीं कल्पता, दूसरों को कल्पता है ऐसी मर्यादा है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है, बीच के तीर्थंकरों को जब आवश्यकता हो तब प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधुओं को राजा के

दिये हुए अशन, पान, खादिम, स्वादिम या वस्त्र, पात्र, कंबल, पांवपोंछनक नहीं कल्पते।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों की ओर स्थित मासकल्प है और बीच के तीर्थंकरों की ओर अस्थित मासकल्प है और इसी प्रकार पर्युषणा कल्प भी जानना चाहिये। उसमें पर्युषणाकल्प स्थविरों को उत्कृष्ट से चार मास का और जघन्य से ७० दिन का है, उसमें जिनकल्पी को उत्कृष्ट ही होता है।

शय्यातर पिंड, चतुर्याम व्रत, पुरुष ज्येष्ठ कल्प और कृतिकर्म (वन्दन व्यवहार) करने का कल्प ये बीच के तीर्थंकरों के वारे में भी स्थित कल्प हैं। शय्यातर मकान का मालिक अथवा उसका आज्ञाकारी होता है, अनेक मालिक हों तो उनमें से एक को शय्यातर मानना। इसी प्रकार उसके आज्ञाकारियों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

मालिक, गृहस्थ और आज्ञाकारी। इसमें एक अनेक की चोभंगी है। मालिक और आज्ञाकारी अनेक हों सो वर्जनीय हैं और सब अनेक हों तो एक छोड़ना।

अन्य स्थान में रहकर अन्तिम आवश्यक दूसरे स्थान में करे तो उन दोनों स्थानों के मालिक शय्यातर गिने जाते हैं, शेष जो सुविहित साधु रात्रि में जागते रहकर प्रातःकाल दूसरे स्थान में आवश्यक करे तो वे शय्यातर नहीं माने जाते, किन्तु जो सोकर दूसरे स्थान में आवश्यक करे तो दोनों शय्यातर माने जाते हैं।

जो मालिक घर देकर फिर सकुटुम्ब व्यापार आदि के कारण उस अथवा अन्य देश में चला जावे तो वह जहां हो वहीं वही शय्यातर माना जाता है।

लिंगस्थ को भी उक्त शय्यातर वर्जनीय है, उस को त्याग करने वाले अथवा भोगने वाले युक्त अथवा अयुक्त सबको वह वर्जनीय है, वहां रसापण का दृष्टान्त है। (शय्यातर भोगने में ये दोष हैं) तीर्थंकर का निषेध है, अज्ञातपन नहीं रहता उद्गम (आधाकर्म) की शुद्धि नहीं रहती, निस्पृहता नहीं रहती, लघुता होती है, वसतिदुर्लभ हो जाती है और वसति का व्युच्छेद होता है।

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के अतिरिक्त शेष तीर्थंकरों ने तथा महाविदेह के तीर्थंकरों ने भी लेश से किसी कारणवश आधाकर्मी तो भोगा है, किन्तु सागरिक पिंड याने शय्यातरपिंड नहीं भोगा।

गच्छ बड़ा होवे तो प्रथमालिका–नवकारशी–पानी आदि लेने जावे तब तथा स्वाध्याय करने की शीघ्रता हो तब उद्गमादिक अन्य दोष किये जा सकते हैं। दो प्रकार की रुग्णावस्था में, निमंत्रण में, दुर्लभ द्रव्य में, अशिव (उपद्रव युक्त काल) में, अवमोदरिका (दुर्भिक्ष) में, प्रद्वेष में और भय में शय्यातर के आहार का ग्रहण अनुज्ञात है।

शय्यातरपिंड कौन २ सी वस्तु है सो गिनाते हैं

अशन, पान, खादिम, स्वादिम ये चार तथा पादपोंछनक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, सूचि, क्षुरप्र, कर्णशोधनिका और नखरदनिका (नेण) ये शय्यातरपिंड हैं।

किन्तु तृण, डगल, गोवर, मल्लक (शराव), शय्या, संस्तारक, पीठ, लेप आदि शय्यातरपिंड नहीं माने जाते, वैसे ही उपधि (उपकरण) सहित शिष्य भी शय्यातर नहीं।

शेष स्थित–कल्प प्रसिद्ध हैं।

छद्मस्थ तथा केवली का कषाय रहित चारित्र यथाख्यात है। वह अनुक्रम से उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगी तथा अयोगी गुणस्थान में होता है।

क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। इन दस प्रकार का यतिधर्म है।

संवर-तत्त्व कहा, अब निर्जरा-तत्त्व कहते हैं—

कड़ी धूप से तालाब के जल का शोषण होता है, उसी प्रकार पूर्व संचित कर्म जिससे निर्जरे, वह निर्जरा। वह बारह प्रकार की है। अनशन, उनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, ये बाह्यतप है। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग ये अभ्यंतरतप हैं।

निर्जरा-तत्त्व कहा, अब बंध-तत्त्व कहते हैं--

जैसे रास्ते में रखे हुए घी से लिप्त इव्वे ऊपर रज लिपट जाने से मजबूत बंध जाते हैं, वैसे ही राग द्वेष युक्त जीव को कर्म का बंध होता है वह चार प्रकार का है। स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित, अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का बंध है।

बंध-तत्त्व कहा, अब मोक्ष-तत्त्व कहते हैं—

जैसे अनादि संयोग से संयुक्त रहे हुए कंचन और उपल का प्रबल अग्नि प्रयोगों से अत्यन्त वियोग होता है, वैसे ही जीव

और कर्मों का शुक्लध्यान रूप अग्नि के योग से जो अत्यन्त वियोग होता है सो मोक्ष, वह नौ प्रकार का है।

सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अंतर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व ये नव प्रकार हैं। मोक्ष यह शुद्ध पद है, अतः वह विद्यमान है। आकाशकुसुम के सदृश अविद्यमान नहीं, उसकी मार्गणादिक से प्ररूपणा की जा सकती है।

नरगति, पंचेन्द्रिय, त्रस, भव्य, संज्ञि, यथाख्यात, क्षायिक-सम्यक्त्व, अनाहार, केवलज्ञान और केवलदर्शन में मोक्ष है, अन्यस्थिति में नहीं। द्रव्यप्रमाण में अनंत जीवद्रव्य है, क्षेत्र-प्रमाण में सर्व सिद्ध लोक के असंख्यातवें भाग में स्थित हैं।

स्पर्शना क्षेत्र से कुछ अधिक है, काल एकसिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त है, प्रतिपात का अभाव होने से सिद्धों में अंतरद्वार नहीं। भागद्वार में सर्वजीव के अनन्तवें भाग में सिद्ध है, भावद्वार में उनका ज्ञान-दर्शन क्षायिकभाव में है और जीवत्व पारिणामिकभाव में है।

अल्पबहुत्व द्वार में सबसे थोड़े नपुंसक सिद्ध हैं, उससे संख्यात गुणे स्त्री सिद्ध और उससे संख्यात गुणे पुरुष सिद्ध हैं, इस प्रकार संक्षेप से मोक्ष तत्व का वर्णन किया।

आधार में आधेय के उपचार से यहां मोक्ष शब्द से सिद्ध जानना चाहिये। वे पन्द्रह प्रकार का है।

जिन सिद्ध, अजिन सिद्ध, तीर्थ सिद्ध, अतीर्थ सिद्ध, वहां तीर्थ वर्तमान होते जो सिद्ध हुए वे तीर्थ सिद्ध हैं। तीर्थ में प्रवृत्त होने के पहिले ही जातिस्मरणादिक से तत्त्व जानकर जो सिद्ध पद को

प्राप्त हुए वे अतीर्थ सिद्ध हैं। अपने आप बुद्ध हो सिद्ध होवे वे स्वयंसिद्ध, वैसे ही प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं। स्वयंबुद्ध दो प्रकार के हैं—तीर्थंकर तथा अन्य।

तीर्थंकर के अतिरिक्त स्वयंबुद्धों की बोधि, उपधि, श्रुत और लिंग जानने के हैं, वहां उनको बोधि जातिस्मरणादिक से होती है।

मुखवस्त्रिका, रजोहरण, तीन कल्प, सात पात्र के सामान, इस प्रकार स्वयंबुद्ध साधुओं को बारह प्रकार की उपधि होती है। उनको पूर्वाधीत श्रुत हो वा न हो और जो समीप में देवता हो तो उनको लिंग देते हैं और न हो तो गुरु लिंग देते हैं।

जो स्वयंबुद्ध अकेला विचरने को समर्थ हो वा वैसी उसकी इच्छा हो तो वैसा करता है अन्यथा नियम से गच्छ में वास करता है।

प्रत्येक बुद्ध साधुओं को वृषभादिक देखने से बोधि होती है और उनको जघन्य से मुखवस्त्रिका और रजोहरण, ये दो उपधि होती है।

उत्कृष्ट से उनको मुखवस्त्रिका रजोहरण व सात पात्र के उपकरण इस तरह नव उपधि होती है और उनको पूर्वभव पठित श्रुत इस प्रकार होते हैं। जघन्य से उनको ग्यारह अंग होते हैं और उत्कृष्ट से देश से न्यूनदशपूर्व होते हैं।

प्रत्येक बुद्ध को लिंग तो देवता देते हैं अथवा वह लिंग रहित भी होता है और वह अकेला ही विचरता है, गच्छवास में नहीं जाता।

इस प्रकार छः भेद हुए, शेप भेद कहते हैं--

बुद्धबोधित सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, गृहिलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, और

स्वलिंग सिद्ध तथा जो एक एक समय में सिद्ध होता है, वह एक सिद्ध और एक समय में अनेक सिद्ध हों वे अनेक सिद्ध. (ऐसे सिद्ध के पन्द्रह भेद हैं)

हे जयंती ! ऐसी उल्लसित युक्ति के जोर वाला श्रुत विचार नित्य जिसको रुचता है, वह कर्मों से झट मुक्त हो जाता है। तब वह जयंती श्रमणोपासिका श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर हर्षित हो, उनको वन्दना व नमन करके इस प्रकार पूछने लगी।

हे पूज्य ! जीव गुरुत्व कैसे पाते हैं ?।

हे जयन्ति ! प्राणातिपात और यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से।

हे पूज्य ! भवसिद्धित्व जीवों को स्वभाव से होता है कि- परिणाम से ?।

हे जयन्ती ! स्वभाव से, परिणाम से नहीं।

हे पूज्य ! क्या सर्व भवसिद्ध जीव सिद्ध पावेंगे ?।

हां ! यावत् सिद्धि पावेंगे।

जब हे पूज्य ! सर्व भवसिद्ध जीव सिद्ध हो जावेंगे, तब लोक उनसे खाली हो जावेगा क्या ? नहीं, ऐसा नहीं होता।

हे पूज्य ! यह क्या कहते हो कि-सर्व भवसिद्ध जीव सिद्ध हो जावेंगे तो भी उनसे लोक खाली नहीं होगा ?।

जैसे एक सर्वाकाश की श्रेणी हो अनादि अनंत एक प्रदेशिनी होने से विष्कंभ रहित परिमित और अन्य श्रेणियों से परिवृत श्रेणी होती है, वह परमाणु पद्गलोंमय स्कंधों से समय समय खींचते जावें, तो अनंतउत्सर्पिणी, अवसर्पिणियां जाते भी

अपहृत नहीं होती, इसी कारण से हे जयंती ! ऐसा कहा जाता है कि–लोक खाली नहीं होगा।

हे पूज्य ! सोना अच्छा कि जागना अच्छा ?

हे जयन्ती ! कुछ जीवों का सोना अच्छा और कुछ जीवों का जागना अच्छा।

हे पूज्य ! यह क्या कहते हो ?

हे जयन्ती ! जो जीव अधर्मी, अधर्मानुगत, अधर्मभाषी, अधर्म से उपजीविका चलाने वाले, अधर्म को देखने वाले, अधर्म फल उपार्जन करने वाले, अधर्मशील आचार वाले और अधर्म से ही पेट भरते रहते हैं, उनका सोना अच्छा।

क्योंकि ये प्राणी सोते हुए बहुत से प्राणियों को दुःख परिताप नहीं दे सकते, वैसे ही ये जीव सोते हुए अपने को वा दूसरों को वा दोनों को अधर्म की योजनाओं में नहीं जोड़ सकता, अतः इन जीवों का सोना अच्छा है।

हे जयंती ! जो जीव धार्मिक और यावत् धर्म ही से पेट भरते हुए विचरते हैं, उनका जागना अच्छा है, क्योंकि–ये जीव जागते हुए बहुत से प्राणियों को दुःख परिताप दिये विना रहते हैं, ये जीव जागते हुए अपने को, दूसरों को वा दोनों को विशेष धार्मिक योजनाओं में जोड़ते रहते हैं। ये जीव जागते हुए पिछली रात्रि को धर्म जागरिका जागते रहते हैं, अतः इन जीवों का जागना ही अच्छा है।

इस कारण से हे जयन्ती ! ऐसा कहा जाता है कि– कितनेक जीवों का सोना अच्छा और कितनेक का जागना अच्छा है।

इसी प्रकार बलवानपन तथा दुर्बलपन के लिये भी जानना चाहिये, विशेषता यह है कि– वैसे बलवान जीव उपवास, छट्ठ,

अट्ठम दशम आदि विचित्र तप कर्म से आत्मा की भावना करते हुए विचरते हैं।

इसी प्रकार उद्योग और आलस्य भी जानो, विशेषता यह है कि–ऐसे उद्योगी जीव आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, शैक्ष, ग्लान, तपस्वी, कुल, गण, संघ और साधर्मि के वैयावृत्य से अपने को जोड़ते हैं।

इस प्रकार जिनेश्वर के मुखकमल से निकले हुए सूक्ष्मार्थ रूप मकरंद को भ्रमरी के सदृश रुचि पूर्वक जयंती अमृत के समान पीती थी, अब वह दृढ़ सम्यक्त्व वाली जयंती भव से विरक्त होकर, उदयन को पूछ, सर्व सावद्य का त्याग कर, प्रव्रज्या ले, एकादश अंग सीखकर, मनोहर श्रद्धा व निर्मल चरित्र का पालन कर कर्म जाल तोड़कर सुखपूर्ण स्थान को प्राप्त हुई।

इस प्रकार अग्नि समान पवित्र रुचि को धारण करती हुई जयंती ने शिवसुख प्राप्त किया, इसलिये तुम भी संसार के भय से डरकर उस विषय में सर्व प्रयत्न से आशय बांधो।

इति जयंती कथा

इस भांति गुणवान का जिनवचनरुचिरूप पांचवा भेद कहा व तीसरा गुणवानपन रूप भावश्रावक का लक्षण कहा, अब ऋजु-व्यवहार रूप चौथा लक्षण कहते हैं।

उजुववहारो चउहा जहत्थभणणं अवंचिगा किरिया।
हुंतावायपगासण मित्तीभावो य सब्भावा ॥ ४७ ॥

मूल का अर्थ—ऋजु व्यवहार चार प्रकार का है—
यथार्थभाषण, अवंचक क्रिया, वर्तमान अपराध का प्रकाश और सद मित्रता।

टीका का अर्थ—ऋजु याने सरल चलना सो ऋजु व्यवहार वह चार प्रकार का है, जैसे कि-एक तो यथार्थभणन (यथार्थ-भाषण) अर्थात् अविसंवादि बोलना, सो धर्म के विषय में अथवा क्रय विक्रय में वा साक्षी भरने में। इसका भावार्थ यह है--

दूसरे को ठगने की बुद्धि से भावश्रावक धर्म को अधर्म अथवा अधर्म को धर्म नहीं कहते किन्तु सत्य व मधुर बोलते हैं। क्रय विक्रय के सौदे में भी न्यूनाधिक मूल्य नहीं कहते व साक्षी रूप में बुलाये जाने पर अन्यथावादी नहीं होते।

राजसभा में जाने पर भी असत्य बोलकर किसी को दूषित नहीं करते, वैसे ही धर्म को लज्जित करने वाला वाक्य धर्मरागी भावश्रावक नहीं बोलते।

कमलसेठ के समान, उसकी कथा इस प्रकार है—

यहां महा ऋद्धिवन्त विजयपुर नगर में दुश्मन राजाओं को दास करने वाला यशोजलधि नामक राजा था। वहां जिनधर्म रूपी श्रेष्ठ आम्रवृक्ष में तोते के समान और सत्यवादी कमल नामक नगर सेठ था, उसको कमलश्री नामक स्त्री थी।

उनके विमल नामक पुत्र था, किन्तु वह चेष्टा से तो मलयुक्त ही था, क्योंकि चन्द्र कलाओं का कुलग्रह होते भी दोष का अकर न होकर दोषकर ही है।

वह माता पिता के मना करने पर भी बैलों पर योग्य माल लादकर सोपारक की सीमा पर बसे हुए मलयपुर में स्थल मार्ग से आ पहुँचा।

वहां वह अपना माल बेच कर उसके बदले में दूसरा माल लेकर अपने नगर की ओर बैलों के पैरों के धक्के से मानो पृथ्वी को कंपित करता हो, वैसे पीछा फिरा।

हाय हाय ! मैंने धन में लुब्ध होकर उस बेचारी भोली को व्यर्थ ठगा, क्योंकि वह दूसरों ने खाया और पाप तो मुझे ही लगा। हाय, धिक्कार ! अभी तक परवंचन में मन रखकर मैंने अपनी आत्मा को महान् दुःख वाली नरकाग्नि का इंधन क्यों बनाया ?

यह सोचकर वह कुछ दूर गया, इतने में मार्ग में जाते हुए एक मुनि को देखकर वह इस प्रकार बोला—हे भगवन् ! क्षणभर ठहरिये, मुनि बोले कि—हम अपने काम को जाते हैं, सेठ बोला कि—हे स्वामिन् ! दूसरे कौन पराये काम को भटकते हैं।

तब वे अतिशय ज्ञानी साधु बोले कि—तू ही परकार्य से भटकता है, तब वह मर्म से अटका हो, उस भांति उसी वचन से प्रतिबुद्ध हो गया। वह हर्षित हो, मुनि को वंदन करके पूछने लगा कि—हे भगवन् ! आप कहां रहते हो ? मुनि बोले कि—यहां के उद्यान में।

पश्चात् मुनि का कहा हुआ धर्म सुनकर वह विनन्ती करने लगा कि—हे प्रभु ! मैं आपसे दीक्षा लूंगा तथापि स्वजन वर्ग की आज्ञा लाता हूँ। यह कह मुनि को नमन करके घर आ, स्वजनों को एकत्रित कर कहने लगा कि, यहां विशेष लाभ नहीं मिलता, इसलिये दिग्यात्रा को जाता हूँ।

वहां दो सार्थवाह हैं—एक अपने पांच रत्न देता है, इच्छित नगर को ले जाता है, और पहिले उधार दिया हुआ मांगता नहीं। दूसरा कुछ भी देता नहीं, इच्छित नगर को ले जाता नहीं, पूर्व संचित ले लेता है, अतः बोलो, किसके साथ जाऊं।

वे बोले कि पहिले के साथ सेठ बोला कि तब आकर देखो तब वे प्रसन्न होकर उसके साथ मार्ग में चले वहां बैल, घोड़े आदि न देखकर वे पूछने लगे कि वह सार्थवाह कहां है? सेठ बोला कि अशोक वृक्ष के नीचे बैठे हैं, उन्हें देखो।

तब वे विस्मित हो मुनि को प्रणाम करके वहां बैठे पश्चात् सेठ मुनि को नमन करके पूछने लगा कि यहां उत्तम सार्थवाह कौन है?

साधु बोले यहां द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के सार्थवाह होते हैं उनमें पहिला स्वजन वर्ग है जो कि अपना पोपण प्राप्त करने में लीन है। वह दुखित जीव को कुछ भी सुकृत रूपी धन नहीं देता और परभव के मार्ग में चलते उसके साथ एक कदम भी नहीं भरता।

वह क्लेश-कलह करके उपार्जित सुकृत को भी हरण कर लेता है, अब दूसरे सार्थवाह गुणरत्न युक्त सुगुरु हैं। वे जिन-शासन रूप पवित्र आगर में उत्पन्न हुए निर्मल तेजवान् अपने पंचमहाव्रत रूप रत्न सम्यक् रीति से देते हैं। उन पांच रत्नों के द्वारा जो सुखकारी सुकृत द्रव्य उपार्जन किया जाता है, उसे वे कदापि नहीं लेते और क्रमशः मुक्ति नगर को पहुँचाते हैं।

यह सुन हरिनन्दी ने संवेग पाकर श्रमण धर्म ग्रहण किया और उसके स्वजन भी यथाशक्ति धर्म अंगीकार करके घर गये। अब हरिनन्दी परवंचन क्रिया रूप नदी का शोषण करने में सूर्य समान हो, सत्क्रिया करके अनुक्रम से अक्रिय स्थान को पहुँचा।

इस प्रकार हरिनन्दी के समान हे जनों! तुम पाप रूप अंधकार की अमावस्या की रात्रि समान परवंचन क्रिया का त्याग करके सत्क्रिया वाले होकर अक्रिया के इच्छुक रहो।

इस प्रकार हरीनन्दी की कथा है।

इस प्रकार ऋजुव्यवहार में अवंचक क्रिया रूप दूसरा भेद कहा, अब भाविअपाय प्रकाशन स्वरूप तीसरा भेद कहते हैं। अशुद्ध व्यवहार करने वाले को संकट आते रहते हैं, इस प्रकार भावी अपायों का जो प्रकाश करे अर्थात् अपने आश्रयी को ऐसा सिखावे कि– हे भोले! चोरी आदि पाप जो कि-यहां व परभव में अनर्थकारी है, वह नहीं करना चाहिये और भद्रसेठ के समान अपना पुत्र अन्याय से चलता हो, तो उसकी भी उपेक्षा करना चाहिये।

भद्र सेठ की कथा इस प्रकार है—

जैसे इन्द्र का शरीर सुवर्ण (सुन्दर वर्ण से) संगत और सुगत है, वैसे ही सुवर्ण संगत (सोने से भरपूर) और सुगत (आबाद) भद्दिलपुर नामक नगर था, वहां उत्तम न्याय रूप कुञ्ज में केशरी सिंह समान केशरी नामक राजा था।

वहां भद्र हाथी के समान दान से उल्लसित भद्र नामक सेठ था, उसका धनलुब्ध और ठगाई में प्रवीण धन नामक पुत्र था। वे पिता–पुत्र दोनों मिलकर एक समय सकरुण (करुण वृक्ष सहित) और पांडव सैन्य के समान सअर्जुन (अर्जुन वृक्ष सहित) उद्यान में गये। वहां उन्होंने सुप्रतिष्ठित मेरु पर्वत के समान क्षमा के भार को धारण करने वाले, दया रूप उदक श्राव करने वाले और बड़े कुल में उत्पन्न हुए सुप्रतिष्ठ नामक मुनि को देखे।

वे मस्तक पर हाथ जोड़ कर, उक्त मुनि को प्रणाम करके उचित स्थान पर बैठ गये, तब वे मुनि धर्म कहने लगे –

मरु-मंडल में कमल से भरे हुए तालाब के समान तथा अंधकार में रत्न के दीपक के समान यह दुर्लभ मनुष्य भव जान कर हे भव्यों! तुम यथाशक्ति जिन धर्म करो।

यह सुन पिता पुत्र हर्षित हो गृहि धर्म अंगीकृत कर जयकारी मुनि के चरणों में नमन करके अपने घर आये ।

अब भाविभद्र मन वाला भद्र सेठ शुद्ध व्यवहार रखता हुआ निर्मल गृहि धर्म पालने लगा। किन्तु उसका पुत्र धन, नित्य धन में अति लुब्ध होने से कूट क्रय-विक्रय और कूट तौल-माप से व्यापार करता था, वह अपायों की परवाह न करके चोरों का लाया हुआ माल भी चुपचाप ले लेता था, यह जानकर उसके पिता ने उसको कोमल वचनों से इस प्रकार कहा कि— हे वत्स! अन्याय से द्रव्य प्राप्त करना पोछे से अनिष्ट कर्त्ता और अपथ्य भोजन के समान दोष परिपूर्ण हो जाता है, ऐसा सज्जन कहते हैं।

अन्याय से उपार्जन किया हुआ द्रव्य अशुद्ध है, अशुद्ध द्रव्य से आहार भी अशुद्ध होता है, उससे शरीर भी अशुद्ध रहता है और अशुद्ध देह से किसी समय जो कुछ शुभ कृत्य कभी किया जाता है वह ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान सफल नहीं होता तथा अन्याय मार्ग में चलते हुए लोगों को होने वाले अपाय विचारों से प्रथम तो जगत में काजल से भी काला अपयश फलता है और यहां वे बन्दी-गृह में पड़ते हैं, वध बंध पाते हैं, कभी हाथ काटे जाते हैं और परलोक में भी वे दारुण नरकादिक दुःख की पीड़ा भोगते हैं।

धन विजली की दमक के समान चञ्चल है और वह जल, अग्नि तथा राजाओं के अधीन है, यह जानकर यहां कौन अन्याय करने को तैयार होवे? हे वत्स! अन्याय से उपार्जित किया हुआ धन भी अंत में अत्यन्त विरस हो जाता है और इस दुर्जय संसार मूल बन जाता है। अति लोभ रूप स्नेह से भरे हुए अन्याय

रूप दीपक में होने वाले इस व्रत भंग रूप काजल से कौन अपने आपको मैला करता है ?

इस प्रकार बाप के कहने पर भी वह भारी लोभ कर्म से मलीन रहकर उस बात को जरा भी स्वीकार न करते पूर्ववत् ही अन्याय में तत्पर रहने लगा।

अब एक चोर उसके पास दो कुंडल सहित हार लाया, वह धन-सेठ ने थोड़े धन में ले लिया। एक समय उसने चोर से रत्नावली ली, इतने में विमल नामक राजा का भंडारी उसकी दूकान पर आ पहुँचा—उसके कहने से धन उसे कपड़े दिखाने लगा, इतने में उसकी गोद में से रत्नावली गिर पड़ी।

उसे ले, पहिचान कर विमल पूछने लगा कि-सेठ ! यह क्या है ? तब धन घबराकर कुछ भी नहीं बोल सका, जिससे विमल बोला कि-इसके साथ दूसरा भी राजा का हार तथा कुंडल आदि माल तेरे पास होना चाहिये, ऐसा मैं मानता हूँ, अतः जल्दी वह मुझे दे।

अन्यथा राजा जान लेगा तो धन तथा शरीर से छूटने वाला नहीं, इतने में मार मार करता कौतवाल वहां आ पहुँचा। उसने धन को पकड़ कर बांध लिया और विमल के उस विषय में पूछने पर उसने कहा कि-खोजते २ यह एक चोर हाथ लगा है, अतः इसे पकड़ा है।

पश्चात् उसने सब को राजा के आभरण आदि चोरने की बात कह सुनाई, व उसने उसको रत्नावली सहित राजा के पास उपस्थित किया। तब राजा ने भ्रकुटी चढ़ाकर धन को ऐसी डाट बताई कि-उसने रत्नावली, कुंडल तथा हार आदि सब माल राजा को सौंपा।

इस प्रकार ऋजु-व्यवहार में भावि-अपाय-प्रकाशन रूप तीसरा भेद कहा. अब सद्भाव से मित्रता करना रूप चौथा भेद कहते हैं. 'मित्ती भावो व सब्भावो' ति मित्र का भाव या काम सो मित्रता। उसका भाव याने होना या सत्ता अर्थात् सद्भाव से सुमित्रवत् निष्कपट मित्रता करे। क्योंकि–मित्रता और कपट-भाव इन दोनों का छाया व धूप के समान विरोध है, क्योंकि कहा है कि–जो कपट से मित्रता करना चाहते हैं, पाप से धर्म साधना चाहते हैं दूसरे को दुःखी करके समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, सुख से विद्या सिखना चाहते हैं और कठोर वाणी से स्त्री को वश में करना चाहते हैं, वे प्रकटतः अपण्डित हैं। यह चौथा ऋजु व्यवहार का भेद है।

सुमित्र की कथा इस प्रकार है।

सुपुरुषपुर (अलकापुरी) के समान सुकर (न्यून कर वाले) और वर वस्त्र वाले श्रीपुर नामक नगर में समुद्र जैसे नदीन (नदी पति) है, वैसा अदीन समुद्रदत्त नामक सेठ था। उसका सुमित्र नामक पुत्र था, वह वास्तविक मित्रता रखने वाला व महान्

दीप्तिवंत कान्तिवान था और सूर्य के समान असज्जनों को त्रास देने वाला था।

उसके वसुमित्र नामक निर्धर्मी और गुणहीन व लौहमय बाण के समान परमर्म को वींधने वाला और कपट-प्रीति धरने वाला मित्र था। वे दोनों किसी प्रकार माता पिता की रजा लेकर बहुत सा माल लेकर देशान्तर को चले।

अब मित्र पर द्वेष रखने वाला व कौशिक-सर्प के समान दोष से भरा हुआ वसुमित्र मित्र के धन में लुब्ध हो मार्ग में इस प्रकार विवाद करने लगा–जीवों की धर्म से जय होती है कि पाप से? सो हे मित्र! मुझे कह, तब सुमित्र बोला कि, धर्म ही से जय है, पाप से नहीं।

क्योंकि-पूर्णद्रव्य, निर्मलकुल, अखंडआज्ञा का, ऐश्वर्य, अभंगुर बल, सुरसंपदा और शिवपद ये निश्चय करके जीवों को धर्म ही से मिलते हैं। जो पाप से वृद्धि, ऋद्धि, सिद्धि होती हो तो यहां कोई जड़, दरिद्र वा असिद्ध रहे ही नहीं।

चंद्रमा हरिण को रखता (रक्षा करता) है तथापि मृग लांछन कहलाता है और सिंह हरिणों को मारता है तो भी मृगनाथ कहलाता है, अतएव पाप ही से जय है, ऐसा वसुमित्र बोला।

इस प्रकार दोनों जने विवाद करते हुए सर्व लोगों के सन्मुख शर्त की प्रतिज्ञा करके किसी बिलकुल धर्म से अजान ग्राम में गये। वहां अत्यंत मत्सर से भरे हुए वसुमित्र ने देहाती लोगों को अपना पक्ष पूछा, तो वे बोले कि अधर्म ही से जय है।

वे बोले कि-जो दूसरों को ठगने में तत्पर करुणाहीन व सदैव असत्य बोलने वाला होता है, वे ही देखो, प्रत्यक्ष अतुल लक्ष्मी सम्पन्न हैं।

हे जीव ! पूर्व जन्म के कटु-कर्म रूप वृक्ष का यह फल भोगते हुए तुझे संतोष रखकर वसुमित्र से प्रद्वेष का त्याग करना चाहिये. यह सोचकर सुमित्र रात्रि को जंगली जानवरों से डरता हुआ एक विशाल वट वृक्ष की खोल में घुस गया।

इतने में उस वृक्ष पर द्वीपांतर से आये हुए पक्षियों को उनमें के एक बड़े पक्षी के पूछने पर उन्होंने जो बात की, वह सुनी। हे पक्षियों ! बताओ कि– कहां से कौन यहां आया है और द्वीपांतर में किसने क्या–क्या नया देखा या सुना है ? तब उन्होंने भी वहां जो देखा–सुना था, सो सब उसे कहा। इतने में उनमें से एक इस प्रकार बोला—

हे तात ! मैं आज सिंहल द्वीप में से आया हूँ, वहां के राजा के रति को रूप को जीतने वाली मदनरेखा नामक पुत्री है।

उसकी आंखों में पीड़ा होती है, उसे आज तीसरा मास हो गया है। वैद्यों ने उसका रोग असाध्य बताया है, जिससे उसके पिता ने वहां ऐसी घोषणा की है कि– जो मेरी पुत्री को निरोग करे उसीसे मैं इसका विवाह करूंगा और साथ ही आधा राज्य भी दूँगा।

किन्तु हे तात ! अभी तक किसी ने पड़ह को छूआ नहीं। उक्त पड़ह को आज छठा दिन है, इसलिये हे तात ! कहिये कि उसकी आंखों के रोग की कोई औषधि है या नहीं? तब वृद्ध पक्षी बोला कि– निश्चयतः उसके जानते हुए भी दिवस में भी नहीं कहना चाहिये, तो फिर हे पुत्र ! रात्रि में किस प्रकार कहा जाय?

उस पक्षी ने कहा कि– हे तात ! हमारा निवास स्थान बहुत बड़ा है, जिससे यहां कोई सुनने वाला नहीं, इसलिये कहो। तब वह बोला कि– हे वत्स ! मैंने पूर्व में ऐसा सुना है कि–

मार्ग में चलते हुए और रात्रि को यहां बसे हुए जैन साधु बोलते थे कि– यह वृक्ष बहुत उच्च लक्षणों वाला व आंख के रोग का नाशक है। यदि कोई इस वृक्ष के पत्तों का रस उसकी आंखों में डाले तो उसे शीघ्र आराम हो जावे।

यह बात सुनकर सुमित्र सोचने लगा– षट् काय के हितकर्ता, मित्रता गुण के मंदिर, दूरित रूप अग्नि बुझाने में मेघ समान और सम्यक् ज्ञान रूप रत्न के रत्नाकर समान जैन मुनि असत्य नहीं बोलते। यह निश्चय कर उस वृक्ष के स-रस पत्ते साथ लेकर उसने अपने को सिंहलद्वीप से आये हुए भारंड पक्षी के पैर में बांधा। अब वह भारंड पक्षी उसे वहां ले गया। वहां पड़ह को छू कर राजा के पास गया। राजा ने उसकी उचित प्रतिपत्ति करके कुशल वार्ता पूछी, उसने कुशल वार्ता कहकर संध्या को बलि–

अतएव किसी भी उपाय से इसे मार डालना चाहिये। यह सोचकर वह भेंट देकर राजा के समीप बैठ गया। पश्चात् एकान्त जानकर वह कपट से सुमित्र के घर में गया, वहां इन दोनों ने परस्पर कुशल समाचार पूछा। इतने में वसुमित्र ने कहा कि- हे सुमित्र ! कुछ दिनों तक तुमने राजा को मेरा परिचय मत देना सुमित्र ने यह बात स्वीकार की।

अब एक दिन वसुमित्र गुपचुप राजा के पास जाकर विनन्ती करने लगा कि- हे देव ! यद्यपि सज्जन पुरुष ने पराये दोष नहीं कहना चाहिये, तथापि स्वामी को भारी हानि न हो ऐसा सोचकर कहता हूं कि- यह आपका जामाता हमारे ग्राम में एक डोम वैद्य का पुत्र था। यह सुन राजा वज्राहत की भांति दुःखी हुआ और उसने सकल वृत्तान्त सुबुद्धि मंत्री को कह सुनाया।

मंत्री बोला कि-हे देव ! जो ऐसा है तो बड़ा अपयश फैलेगा क्योंकि-आपकी यह नगरी द्वीपों के मध्य में आई हुई व व्यापारियों

का स्थान है। तब राजा आतुर होकर बोला कि– जब तक यह बात बाहिर फैली नहीं, तब तक इसे शीघ्र गुपचुप मार डालो।

मंत्री ने यह बात स्वीकार की, पश्चात् राजा ने अपनी पुत्री को एकांत में पूछा कि– तेरे पति ने कोई अकुलीनता का विचार सत्य किया है (प्रकट किया है)? वह बोली कि–चन्द्रमा में तो कलंक है पर मेरे पति में तो वह भी नहीं। वह तो दूसरे का गुह्य सम्हालने में केवल गुणमय–मूर्ति है।

इतने में सुबुद्धि मंत्री ने अपने विश्वस्त मनुष्यों के द्वारा नाटक देखने के मिष से सुमित्र को संध्या समय अपने यहां बुलवाया। किन्तु पुण्य के बल की प्रेरणा से सुमित्र ने उस समय अपना वेष वसुमित्र को पहिरा कर वहां भेजा, उसे सुबुद्धि के मनुष्यों ने मार डाला।

यह जानकर राजा दुःखी होने लगा कि– मेरी पुत्री का अब क्या होगा? इतने में वह आकर पूछने लगी कि– पिताजी! यह क्या बात है? राजा बोला कि– मैं तेरे वैधव्य का करने वाला पापी हूँ। तब वह बोली कि– आपके जमाई तो घर पर बैठे हैं।

यह सुनकर राजा के सुमित्र को एकान्त में पूछने व आग्रह करने पर उसने वसुमित्र का सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। तब राजा विचार करने लगा कि–अहो! इसका मैत्री-भाव देखो और मत्सर-भीरुता तथा धर्म में सुस्थिरता देखो।

यह सोच विस्मित हो राजा मंत्री व पौरजनों को कहने लगा कि– सुमित्र का चित्त सचमुच मित्रता वाला है। तदनंतर सुमित्र ने हर्षित होकर अपने माता पिता को वहां बुलाये और राजा ने बड़ी धूमधाम से उनका नगर में प्रवेश कराया। माता पिता के

अन्नह भणणाईसु अबोहिबीयं परस्स नियमेण ।
ततो भवपरिवुड्ढी ता होज्जा उज्जुववहारी ॥४८॥

मूल का अर्थ—अन्यथा-भाषण आदि करने दूसरों को नियम से अबोधि बीज के कारण हो जाते हैं और उससे संसार बढ़ जाता है, अतएव ऋजुव्यवहारी होना चाहिये।

टीका का अर्थ—अन्यथा-भणन याने यथार्थ-भाषण आदि शब्द से अवंचक क्रिया, दोषों की उपेक्षा तथा कपट मित्रता लेना चाहिये। ये दोष होवे तो श्रावक दूसरे मिथ्यादृष्टि जीव को निश्चयतः अबोधि का बीज हो जाता है अर्थात् उससे दूसरे धर्म नहीं पा सकते। कारण कि– इन दोषों में लीन श्रावक को देखकर वे ऐसा बोलते हैं कि– " जिन शासन को धिक्कार हो कि– जहां श्रावकों को ऐसे शिष्ट जनों को निंदनीय मृषा-भाषण आदि कुकर्म

से रोकने का उपदेश नहीं किया जाता " इस प्रकार निन्दा करने से वे प्राणी कोटि-जन्म पर्यन्त भी बोधि को नहीं पा सकते, जिससे यह अबोधि बीज कहलाता है और उस अबोधि बीज से निन्दा करने वाले का संसार बढ़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसके निमित्त-भूत श्रावक का भी संसार बढ़ता है।

क्योंकि कहा है कि- जो पुरुष अनजान में भी शासन की लघुता करावे, वह अन्य प्राणियों को उस प्रकार मिथ्यात्व का हेतु होकर उसके समान ही संसार का कारण कर्म-संचय करने को समर्थ हो जाता है कि-जो कर्म, विपाक में दारुण, घोर और सर्व अनर्थ का बढ़ाने वाला हो जाता है।

ऋजुव्यवहार रूप भाव-श्रावक का चौथा लक्षण कहा, अब गुरु-शुश्रूषक रूप पांचवां लक्षण कहते हैं—

सेवाइ कारणेण य संपायणभावओ गुरुजणस्स ।
सुस्सूसणं कुणंतो गुरुसुस्सूओ हवइ चउहा ॥४९॥

मूल का अर्थ— गुरुजन की सेवा से, दूसरों को उसमें प्रवृत्त करने से, औषधादिक देने से तथा चित्त के भाव से गुरु की शुश्रूषा करता हुआ चार प्रकार से गुरु शुश्रूषक होता है।

टीका का अर्थ — सेवा से याने पर्युपासना द्वारा, कारण से याने दूसरों को उसमें प्रवृत्त करने से, संपादन से याने गुरु को औषधादिक देने से और भाव से याने चित्त के बहुमान से गुरु-जन की याने आराध्य वर्ग की, यहां यद्यपि माता पिता भी गुरु माने जाते हैं तो भी यहां धर्म के प्रस्ताव से आचार्य आदि ही प्रस्तुत हैं अतः उन्हीं के उद्देश्य से गुरु शुश्रूषक की व्याख्या करना.

भावार्थ तो सूत्रकार ही बताते हैं, वहां सेवा रूप प्रथम भेद का आधी गाथा द्वारा वर्णन करते हैं—

सेवइ कालंमि गुरुं अकुणंतोज्झाणजोग वाघायं ।

मूल का अर्थ-- गुरु के ध्यान-योग में बाधा न देते समय पर उनकी सेवा करे।

टीका का अर्थ-- काले-अवसर पर पूर्वोक्त स्वरूप वाले गुरु की सेवा करे अर्थात् उनकी पर्युपासना करे (किस प्रकार सो कहते हैं) धर्म-ध्यानादि ध्यान तथा प्रत्युपेक्षणा और आवश्यक आदि योग में व्याघात याने अंतराय न करते। जीर्ण सेठ के समान

जीर्ण सेठ की कथा इस प्रकार है--

मनोहर जनशालिनी वैशाली नामक नगरी थी, वहां जिनदत्त नामक निर्मल बुद्धिमान श्रावक था। वह सदैव जिन के चरण कमल की सेवा करने में भ्रमर समान रहता था और सेठ की पदवी से रहित हो गया था, इससे जीर्ण सेठ के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। वहां बाहिर के देवालय में श्री वीर प्रभु एक समय छद्मस्थपन में काउस्सग्ग में खड़े थे।

जीर्ण सेठ होते हुए भी उसकी धर्म पर वासना अजीर्ण थी, वह त्रैलोक्य में सूर्य समान जिनेश्वर को देखकर कोक पक्षी के समान हर्षित हुआ। वह उनके ध्यान में विघ्न किये विना अपने जन्म का फल प्राप्त करने के लिये जगत् पूज्य जगद् गुरु की सेवा करने लगा।

वह चिरकाल सेवा करके अपने घर आया। उसने विचार किया कि- भगवान आज कहीं भी गये नहीं, अतः उपवासी होना चाहिये। इस प्रकार नित्य सेवा करता हुआ वर्षाकाल पूर्ण होने पर विचार करने लगा कि- जो स्वामी मेरे घर पधारें, तो अच्छा है। इस भांति ध्यान करके व स्वस्थ मन से चिरकाल तक घर में रहा और मध्याह्न के समय घर के द्वार पर खड़ा रहकर इस प्रकार सोचने लगा- जो आज यहां जंगम-कल्पवृक्ष समान वीर-प्रभु पधारेंगे तो मस्तक पर अंजली बांधकर सन्मुख जाऊँगा और उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर परिवार सहित वंदन करूंगा और फिर उनको निधान के समान घर में लाऊँगा और वहां उनको उत्तम प्रासुक एषणीय आहार, पानी से भक्ति पूर्वक पारणा कराऊँगा, जो कि (पारणा) संसार-समुद्र तारने में समर्थ है। पुनः उनको नमन करके कुछ पद उनके पीछे जाकर तत्पश्चात् अपने को धन्य मानता हुआ शेष रहा हुआ खाऊँगा।

इस प्रकार जिनदत्त सेठ मनोरथ करता था, इतने में श्री वीर-प्रभु भिक्षा के हेतु अभिनव सेठ के घर पधारे। उसने दासी के हाथ से चाटू द्वारा भगवान को उड़द दिलवाये। जिससे उस सुपात्र-दान से वहां पञ्च-दिव्य प्रकट हुए।

वहां राजा आदि एकत्रित होकर उस सेठ की प्रशंसा करने लगे और प्रभु भी वहां पारणा करके अन्य स्थल में विहार करने

सइ वन्नणाइ करणा अन्नेवि पवत्तए तत्थ ॥ ५० ॥

मूल का अर्थ—सदा स्वतः वर्णन आदि करके दूसरे को भी उसमें प्रवृत्त करता है।

टीका का अर्थ— सदैव वर्णवाद करके याने कि नित्य सद्-गुण वर्णन करके अन्य प्रमादियों को भी पद्मशेखर महाराजा के समान गुरु-सेवा में प्रवृत्त करे।

पद्मशेखर महाराज की कथा इस प्रकार है—–

समुद्र का जल पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) का शयनस्थल है, श्रेष्ठ रत्नों युक्त है, वैसे ही पृथ्वीपुर नामक नगर भी पुरुषोत्तम (उत्तम पुरुषों) का शयन (निवास स्थान) और रत्न युक्त होते हुए क्षार गुण रहित था। वहां न्यायवान्, व्यसन रहित और महादेव के समान होते भी जड़ संग रहित पद्मशेखर नामक राजा था।

वह बाल्यावस्था ही से विचार पूर्वक भाव से जिन-धर्म अंगीकृत कर, अन्य राजा तथा सरदारों के आगे जिन-धर्म की प्ररूपणा करता था। वह जीवदया की प्रशंसा करता, प्रमाद रहित हो मोक्ष का वर्णन करता तथा बहुमान से नित्य बारम्बार गुरु का इस प्रकार वर्णन करता।

गुरु-महाराज क्षमावान्, जितेन्द्रिय, शांत, उपशमवन्त, राग रोष रहित, परनिंदा-वर्जक और अप्रमत्त होते हैं, वे उपशम रूप शीतल जल के प्रवाह से क्रोध रूप अग्नि को उपशमन करते हैं, और मजबूत जड़ डालकर उगे हुए भव रूप झाड़ को नाश करने के लिये दावाग्नि समान होते हैं।

वे काम को जीतने वाले हैं, तथापि प्रसिद्ध सिद्धि रूप स्त्री के विलास सुख में लीन होते हैं। वैसे ही सर्व–संग के त्यागी

होते हुए भी चारित्र-धन के खूब संग्रह करने वाले होते हैं तथा समस्त जीवों की रक्षा करने में भारी करुणावान् होते भी प्रमाद-रूप हाथी का कुंभस्थल विदीर्ण करने में सिंह समान होते हैं।

उनको नीचे लिखी उपमाएँ दी जाती हैं:—कांसा, शंख, जीव, गगन, वायु, शरद ऋतु का पानी, कमल-पत्र, कूर्म, विहग, खड्गि (गैंडा), भारंड पक्षी, हाथी, बैल, सिंह, मेरु-पर्वत, समुद्र, चन्द्र, सूर्य, स्वर्ण, वसुन्धरा और प्रज्वलित अग्नि के समान, वे माने जाते हैं, इत्यादिक दृष्टांतों से जिनागम में मुनिवरों का वर्णन किया है। उनका भाव पूर्वक गुण वर्णन करने से पाप दूर भागते हैं।

मनुष्य भव, ज्ञानी गुरु और उत्तम धर्म, यह सामग्री मिलना दुर्लभ है, इसलिये तूं अपने हित को जान। ऐसे शुभगुरु, भाग्य-शाली पुरुषों ही को दृष्टिगोचर होते हैं और वे ही ऐसे गुरुओं का कान को सुख देने वाला वचनामृत पीते हैं। ऐसे महा मुनि का उपदेश रूपी रसायन नहीं करने से निधान मिलते हुए भी उसको छोड़ देने से जैसे पश्चाताप होता है, वैसा पश्चाताप होता है।

इस प्रकार बोलकर उसने बहुत से लोगों को जिन-धर्म में स्थिर किये। अब विजय नामक एक श्रेष्ठी पुत्र ऐसा बोलता था:—

ये मुनि पवन से फरकते वस्त्र समान चंचल मन को किस प्रकार स्थिर रख सकते हैं, वैसे ही अपने अपने विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों को किस प्रकार रोक सकते हैं?

दुखी जीवों को तो मार ही डालना चाहिये, क्योंकि वे मारे जाने से यहां अपना कर्म भोगकर सुगति के भाजन हो जाते हैं। जो अप्रमाद से मोक्ष प्राप्ति कही जाती है, वह ज्वर हरने के लिये सर्प के मस्तक पर स्थित मणि लेने के उपदेश समान है।

इस प्रकार वाचाल होकर वह धर्माभिमुख जनों को बहकाता था, जिससे राजा ने उसे प्रतिबोधित करने के लिये निम्न उपाय की योजना की। उसने यक्ष नामक अपने सेवक को कहा कि:- विजय के साथ मित्रता करके उसके रत्न-करंडक में मेरा यह अलंकार पटक आ।

तब यक्ष ने भी वैसा ही करके राजा को खबर दी, तब राजा ने नगर में पड़ह बजवाते यह घोषणा कराई कि- जिसको किसी भी प्रकार राजा का आभरण मिला हो, वह इसी समय दे देगा तो दोषी न होगा, अन्यथा उसे शारीरिक दण्ड दिया जावेगा ऐसी तीन बार घोषणा कराई।

पश्चात् पुरजनों के साथ अपने पुरुषों को कहा कि-प्रत्येक घर की झड़ती लो। तदनुसार उन्होंने प्रत्येक घर की झड़ती लेते हुए उसे विजय के घर में देखा और उसे पूछा कि- यह क्या किया ?

वह बोला कि- मैं नहीं जानता। वे बोले कि- चोरे हुए को भी नहीं जानता ? यह कहकर वे उसे राजा के पास लाये, तो राजा ने उसे मार डालने की आज्ञा दी। वह प्रकटतः चोर जाना गया, इसलिये किसी ने भी उसे नहीं छुड़ाया। तब विजय दीन होकर यक्ष से कहने लगा:—

हे मित्र ! तूं राजा को विनन्ती करके चाहे जैसा दुष्कर दंड निश्चित करके भी मुझे प्राणदान दिला। तब यक्ष राजा को कहने लगा कि- हे देव ! चाहे जो दण्ड करके भी मेरे मित्र को क्षमा करिए। तब राजा बोला कि- जो तेरा मित्र मारा जाकर सुगति को जावे, यह तुझे क्यों नहीं अच्छा लगता है ?

वह बोला कि-ऐसी सुगति नहीं चाहिये, जीवित मनुष्य भद्र देखता है अतः प्राणभिक्षा दीजिए। तब राजा क्रुद्ध ही के समान रहकर बोला कि:—

जो यह मेरे पास से तेल से भरा हुआ पात्र उठा कर उसमें से एक बिन्दु भी गिराये बिना सारे नगर में फिरा कर मेरे पास आकर रखे, तो तेरे मित्र को छोड़ दूँ। तब उसने राजा की उक्त आज्ञा विजय को सुनाई, तो उसने भी जीवित रहने की आशा से वह स्वीकार की।

पश्चात् सारे नगर में पद्मशेखर राजा ने पड़ह वेणु, वीणादि के शब्द से गाजते हुए तथा अति मनोहर रूप, लावण्य व शृंगार युक्त वेश्याओं के विलास से युक्त सर्व इन्द्रियों को सुख देने वाले सैकड़ों नाच तमाशे शुरू करवा दिये।

अब वह विजय यद्यपि अत्यन्त रसिक था, तथापि मृत्यु के भय से अत्यन्त भयातुर होकर तेल भरे हुए पात्र में मन रख कर सारे नगर में फिरने लगा, पश्चात राजा के समीप आकर यत्न पूर्वक वह पात्र उसके सन्मुख धर प्रणाम किया। तब राजा कुछ हँस कर बोला कि:-

हे विजय! तू ने इन अतिवल्लभ नाच तमाशों में भी अति चंचल मन और इन्द्रियों को किस प्रकार रोक रक्खा?

वह बोला कि- हे स्वामिन्! मृत्यु के भय से। तब राजा बोला कि- जो तू एक भव की मृत्यु के भय से अप्रमाद सेवन कर सका तो अनन्त भवों की मृत्यु से डरने वाले मुनि उसका सेवन क्यों नहीं कर सकते? यह सुन विजय प्रतिबोध पाकर परम श्रद्धा-वन्त हो गया।

इस प्रकार गुरु के गुण वर्णन करता हुआ बहुत से लोगों को प्रतिबोधित कर, पद्मशेखर राजा सुगति का भाजन हुआ। इस प्रकार कदाग्रह को जीतने में मंत्र समान पद्मशेखर महाराज का

चरित्र सुनकर हे जनों ! तुम दर्शन ज्ञान चारित्र संपन्न गुरु महाराज के गुणों का वर्णन करते रहो।

इस प्रकार पद्मशेखर राजा की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार गुरुशुश्रूषक लक्षण का कारण नामक दूसरा भेद कहा। अब औषध भेषज संप्रणाम-संप्रदान नामक तीसरा भेद कहने के लिये आधी गाथा कहते हैं:—

ओसह-भेसज्जाई सओ य परओ य संपणामेई।

मूल का अर्थ:—औषध-भेषज खुद व दूसरे से भी दिलावे।

टीका का अर्थ:—केवल एक द्रव्य रूप अथवा लेप करने को उपयोग में आने वाली सो औषध और बहुत से द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई अथवा पेट में खाने की सो भेषज – आदि शब्द से अन्य भी संयम में सहायक वस्तुएँ गुरु महाराज को स्वयं देकर के व दूसरे से दिला करके भली प्रकार पहुंचावे। श्री ऋषभदेव स्वामी के जीव अभयघोष के समान। कहा भी है कि—

अन्नपान, नाना भांति के औषध, धर्म ध्वज (रजोहरण), कंबल, वस्त्र, पात्र, नाना प्रकार के उपाश्रय, नाना प्रकार के दंडादि धर्मोपकरण वैसे ही धर्म के हेतु अन्य भी जो कुछ पुस्तक, पीठ आदि की आवश्यकता हो, वह सब दान देने में विचक्षण जनों ने मोक्षार्थी भिक्षुओं को देना चाहिये।

और भी कहा है कि– मन, वचन और शरीर को वश में रखने वाले मुनियों को जो औषधादि देता है व पवित्र भाव वाला पुरुष भवोभव निरोगी होता है।

अभयघोष की कथा इस प्रकार है।

पूर्व महाविदेह में शत्रुओं से अजित वत्सावती नामक
न्तर्गत प्रभंकरा नामक उत्तम नगरी थी। उसमें सत्कर्म. व
कटिबद्ध और वैद्यक में प्रवीण अभयघोष नामक सुविधि वै
पुत्र था। उसके राजकुमार, मंत्रीकुमार, सार्थवाहकुमार औ
कुमार चार सद्‌गुणी व प्रशंसनीय मित्र थे।

एक समय वे वैद्य के घर एकत्रित हुए। वहां भ्रमर के
मधुकरी को फिरते हुए अनगार (घर रहित) एक साधु पध

वे पृथ्वीपाल नामक राजा के गुणाकर नामक पुत्र थे
उनको गलितकुष्ठ हो गया था। यह देख वे मित्र-गण वैद्य
को कहने लगे:-

तुम वैद्य वेश्या के समान सदैव पैसे ही में दृष्टि रख
लोगों को खाते हो, किन्तु किसी तपस्वी आदि को चिकि
नहीं करते। वैद्यकुमार बोला कि- मैं इन मुनि की चिकि
करूंगा, किन्तु हे भद्र बन्धुओं! मेरे पास औषधियां नहीं है

वे बोले कि-मूल्य हम देते हैं, तूं इसको उत्तम औषधि व
वह बोला कि- लाख का गोशीर्ष चन्दन और लाख का र
कंबल खरीद लाओ, शेष तीसरा लक्षपाक नामक तैल तो मे
घर ही में है। अतः उक्त दोनों वस्तुएँ शीघ्र लाओ।

वे दो लाख द्रव्य लेकर कुत्रिकापण की दूकान पर जाकर उ
दोनों औषधियां मांगने लगे, उनको उक्त दूकानदार सेठ ने पूछ
कि-इनका तुम्हें क्या काम है? वे बोले कि- इनके द्वारा साधु
की चिकित्सा करना है।

यह सुन सेठ विचार करने लगा कि- कहां तो इनकी प्रमाद
रूप सिंह की क्रीड़ा करने के समान कानन रूप यौवनावस्था और
कहां ऐसी वृद्धावस्था को उचित विवेक पूर्ण बुद्धि !!

ये जो कर रहे हैं, यह तो मेरे समान जरा से जर्जर हुए शरीर वाले को उचित है। अतः जो भाग्यशाली होते हैं, वे ही यह भार उठाते हैं। यह सोचकर उसने उक्त औषधियां बिना मूल्य दे दीं और स्वयं भावितात्मा हो, दीक्षा लेकर मोक्ष को गया।

वे सद्भक्तिवान सब सामग्री तैयार करके उक्त वैद्यकुमार के साथ साधु के पास गये।

उन्होंने नमन करके उनको कहकर उनके सम्पूर्ण अंग में वह तेल लगाया, पश्चात् उन पर कम्बल लपेटा ताकि उसमें से कीड़े निकलें व कम्बल ठण्डा लगने से उसमें घुस गये। किन्तु उनके निकलते समय मुनि को बहुत कष्ट हुआ, जिससे चन्दन द्वारा उन पर लेप करने से वे तुरन्त स्वस्थ हो गये। इस भांति प्रथम बार प्रयोग करने से त्वचा के कीड़े निकले, दूसरी बार मांस के और तीसरी बार में अस्थियों में से कीड़े निकले।

उन कीड़ों को वे दयालु कुमार मृत बैल के शव में डाल आये और पश्चात् संरोहिणी औषधि से साधु को शीघ्र ही स्वस्थ कर दिया। पश्चात् उन मुनि को प्रणाम कर खमा करके उस कंबल को आधे मूल्य में बेचकर उससे जिन-मन्दिर बंधवाया।

पश्चात् वे गृही धर्म और उसके अनन्तर संयम स्वीकार कर अच्युत देवलोक में इन्द्र सामानिक देवता हुए। वहां से च्यवन कर महाविदेह में पांचों भाई हो, दीक्षा लेकर सर्वार्थ-सिद्धि विमान में देवता हुए। अभयघोष का जीव वहां से च्यवन कर इस भरतक्षेत्र में भव्य जनों को बोध देने वाले प्रथम तीर्थंकर के रूप में उत्पन्न हुआ और शेष भरत, बाहुबली, ब्राह्मी और सुन्दरी रूप से उसके अपत्य हुए और सब परम पद को प्राप्त हुए।

कहा भी है कि- [illegible] करने पर प्रणाम करना, स्तुति करना, उनके वल्लभ पर प्रेम करना, उनके द्वेषी पर द्वेष करना, देना, उपकार मानना, ये अमूल-मूल बिना का वशीकरण मंत्र है।

संप्रति महाराज का निदर्शन इस प्रकार है।

लक्ष्मी से अलकापुरी को भी जीतने वाली उज्जयिनी नामक नगरी थी, वहां बहुत से राजाओं से सेवित संप्रति नामक राजा था। वहां स्थित जीवंतस्वामी की प्रतिमा को वंदन करने के लिये किसी समय भवतरु को तोड़ने में हाथी समान सुहस्ति नामक आचार्य सपरिवार पधारे।

तब वहां रथयात्रा शुरू हुई, उसमें चारों प्रकार के वाजों और तमाशों से लोक हर्षित होने लगे, साथ ही स्थान २ पर

नगर नारियां रास रमने लगीं।

श्रद्धावंत भव्य-जन कदम कदम पर लकड़ियों से रास खेलने लगे, चारों ओर सुश्राविकाएँ महामङ्गल गाने लगीं। चतुर रसिकों से आगे खींचा जाता हुआ रथ फिरने लगा, प्रत्येक बाजार व प्रत्येक घर में उसकी पूजा होने लगी। उसके पीछे सकल संघ के साथ सुहस्ति आचार्य फिरने लगे, इस भांति चलते-चलते वह रथ राजमहल के द्वार पर आ पहुँचा।

अब राजा मानों अपने कर्म विवर में फिरते हों, इस भांति उस संघ में सुहस्तिसूरि को देख कर संतुष्ट हो विचार करने लगा-

मैं सोचता हूँ कि- इन दयानिधान मुनींद्र को मैंने पूर्व कहीं देखा है, क्योंकि- ये मेरे मन रूप सागर को चन्द्रमा के समान प्रफुल्लित कर रहे हैं। यह सोचते-सोचते उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह सर्व कार्य छोड़कर गुरु के चरणों में प्रणाम करने को आया।

प्रणाम के अनन्तर वह गुरु को पूछने लगा कि-जिन-धर्म का क्या फल है? सूरि बोले कि- वह स्वर्ग और मोक्ष का फल देता है। तब राजा पुनः बोला कि- अव्यक्त सामायिक का क्या फल है? मुनींद्र बोले कि- राज्य आदि। तब संतुष्ट हो राजा कहने लगा कि- हे भगवन्! मुझे पहिचानते हो? तब आचार्य उत्तम श्रुत ज्ञान के शुद्ध उपयोग से उसे पहिचान कर कहने लगे कि- हे राजन्! तू पूर्व भव में मेरा शिष्य था।

सो इस प्रकार कि- एक समय दुष्काल के समय हम महागिरि आचार्य के साथ मासकल्प से विचरते हुए कौशांबी नगरी में आये। वहां वस्ती तंग होने से व मुनि बहुत से होने से श्री आचार्य महागिरि और हम पृथक-पृथक वस्ती में रहे।

अब सूत्र पौरुषी और अर्थ पौरुषी पूर्ण होने के अनन्तर भिक्षा के समय हमारे साधुओं का एक संघ किसी धनिक के घर गया। तब उक्त धनिक ने अपने को धन्य भाग्य मान कर भक्ति पूर्वक उक्त संघ को बहुत-सा भक्तपान दिया। वह वहां बैठे हुए एक भिखारी ने देखा, जिससे वह सोचने लगा कि- श्रमणों के पुण्य की महिमा देखो ! दोनों भिक्षाचर होते हुए, इन पुण्यशालियों को सर्वत्र मिलता रहता है, तब मैं पुण्यहीन होने से गालियां खाता हूँ।

यह सोच वह उनके पीछे लगकर मार्ग में बारम्बार मांगने लगा कि- हे भगवन् ! तुमको सब के यहां से मिलता है, तो मुझे थोड़ा-सा दीजिये। तब साधु बोले कि- हे भोले ! हम तुझे नहीं दे सकते, क्योंकि हमारे व इस धनपति के स्वामी गुरु वस्ती में रहते हैं। तब वह आशा से प्रेरित होकर वस्ती में आकर हम से मांगने लगा, साथ ही साधुओं ने भी मार्ग का सब वृत्तान्त कहा। तब हमने श्रुतज्ञान के बल से प्रवचन की उन्नति होने वाली देख कर उससे सामायिक श्रुत का उच्चारण करवा कर शीघ्र ही दीक्षा दे दी।

पश्चात् उसे मन भरकर मनोज्ञ आहार पानी खिलाया, रात्रि में वह तीव्र विशूचिका से शुद्ध मन से मर गया। वही श्री चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के पुत्र अशोक श्री राजा के प्रिय पुत्र कुणाल का पुत्र तू हुआ है। यह सुनकर राजा बहुमान से रोमांचित हो मस्तक पर हाथ जोड़कर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगा—

हे ज्ञान दिवाकर ! परोपकार परायण, अत्यन्त करुणा-जल के सागर मुनीश्वर ! आपके चरणों को नमस्कार हो। हे करुणानिधि ! दारिद्र्य रूप भरपूर समुद्र में डूबते हुए जीवों को पार लगाने के

हेतु जहाज समान, आपके चरणों को नमस्कार हो। चन्द्र, अंकुश, मीन, कलश, वज्र तथा कमल आदि लक्षणों से युक्त आपके चरणों को नमस्कार हो।

इस प्रकार स्तुति कर वह गुरु से गृहि-धर्म स्वीकार कर, घर आ, अपने राज्य में सर्वत्र रथ यात्राएँ करवाने लगा व उसने जैसे रंकपन स्मरण कर सत्रागार (दान शालाएं) खुलवाये और जिस प्रकार अनार्यों को प्रतिबोधित किया सो निशीथ-चूर्णि से जान लेना चाहिये।

चिरकाल तक जिन-शासन की प्रभावना करके गुरु की शुश्रूषा करता हुआ वह संप्रति राजा वैमानिक देवता हुआ। इस प्रकार धर्म-विचाराश्रयी संप्रति राजा का उदार वृत्तान्त है। इसलिये हे भव्य जनों ! तुम सब मान छोड़कर सद्गुरु में बहुमान धारण करो। इस भांति संप्रति महाराज का निदर्शन है।

इस प्रकार गुरुशुश्रूषक लक्षण का भाव रूप चौथा भेद कहा. उसके कहने से भाव श्रावक का पांचवां लक्षण पूर्ण हुआ। अब प्रवचन कुशल रूप छठा लक्षण कहते हैं—

सुत्ते अत्थे-य तहा उस्सग्ग-ववाय भाव-ववहारे।
जो कुसलत्तं पत्तो पवयणकुसलो तओ छद्धा ॥५२॥

मूल का अर्थ— सूत्र में, अर्थ में, वैसे ही उत्सर्ग में, अपवाद में, भाव में और व्यवहार में जो कुशलता रखता हो, वह इन छः प्रकारों से प्रवचन-कुशल माना जाता है।

टीका का अर्थ— यहां उत्कृष्ट वाक्य सो प्रवचन वा आगम कहलाता है, वह सूत्रादिक भेद से छः प्रकार का है। अतः उसके अन्तर्गत स्थित कुशलता भी छः प्रकार की है और उसके सम्बन्ध

दासी नामक स्त्री थी। उन्होंने यावज्जीवन पर्यन्त चतुष्पद का त्याग किया था, जिससे गोरस मालिक का दिया हुआ वे ग्वाल के हाथ ही से लेते थे।

अब ग्वालों के साथ आने जाने से उनकी प्रीति हो गई, तब किसी विवाह प्रसंग पर ग्वालों ने उक्त सेठ को निमंत्रण भेजा। तब सेठ कामकाज की अधिकता से यद्यपि स्वयं वहां नहीं गया, तथापि उसने वहां बहुत से वेष-अलंकार तथा उत्तम वस्त्र भेजे। जिससे ग्वालों की बहुत शोभा बढ़ी और वे प्रसन्न होकर सेठ को कम्बल व सम्बल नाम के दो बछड़े देने लगे।

सेठ बोला कि- मेरे चतुष्पद का नियम है। किन्तु तो भी वे आग्रह पूर्वक सेठ के घर उनको बांध कर चले गये। अब सेठ विचार करने लगा कि- जो मैं इनको जोतूंगा, तो दूसरे लोग भी इनको इच्छानुसार जोतेंगे, इसलिये भले ही ये यहां खड़े रहें। अब सेठ प्राशुक खाद्य, घांस व छने हुए पानी से स्वयं ही उनका पालन करने लगा। वह सेठ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास करने लगा तथा वह पुस्तक पढ़ता व नित्य नया अध्ययन भी करता जिसे सुन-सुनकर वे संज्ञावान (समझदार) भले बैल उपशांत हुए.

जिससे जिस दिन निस्पृह जिनदास उपवास करता, उस दिन वे भी शुद्ध मन से आहार का त्याग करते। इससे सेठ को भी उनमें बहुमान और अधिक स्नेह हुआ और वे भी भद्रक भाव वाले होने से उपशांत हुए।

अब एक दिन उस श्रावक के मित्र ने उससे पूछे बिना भंडीरमण की यात्रा में उनको अपनी गाड़ी में जोता। उसे विस्मय हुआ कि-ऐसे बैल और किसी के नहीं हैं, इससे उसने भिन्न २ गाड़ीवालों के साथ उन बैलों को बहुत सी बार दौड़ाये।

सुणइ तयत्थं तहा सुतित्थंमि ।

मूल का अर्थ — वैसे ही सुतीर्थ में उसका अर्थ सुने ।

टीका का अर्थ — वैसे ही याने अपनी योग्यता के अनुसार सुतीर्थ में याने सुगुरु के पास उसका याने सूत्र का अर्थ सुने, क्योंकि कहा है कि — तीर्थ में सूत्र और अर्थ का ग्रहण करना, वहां तीर्थ सो सूत्रार्थ के ज्ञाता गुरु जानो, विधि सो विनयादिक औचित्य संपादन करना ।

यहां आशय यह है कि — ऋषिभद्र पुत्र के समान भाव श्रावक ने संविग्न और गीतार्थ गुरु से शास्त्र सुनकर प्रवचन के अर्थ में कुशलता प्राप्त करना ।

ऋषिभद्र-पुत्र की कथा इस प्रकार है।

इस जंबुद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र के मध्यम खंड में आलभिका नामक नगरी थी, जो कि कभी भी शत्रुओं से जीती नहीं गई थी, वहां सुगुरु के प्रसाद से बहुत से वचनों के अर्थ का ज्ञाता चतुर ऋषिभद्र-पुत्र नामक श्रावक था।

वहां दूसरे भी बहुत से श्रावक रहते थे, वे आपत्ति में भी धर्म में दृढ़ रहते थे। उन्होंने मिलकर एक समय ऋषिभद्र-पुत्र को पूछा कि—हे देवानुप्रिय! हमको तू देवताओं की स्थिति कह सुना, तब वह भी प्रवचन में कहे हुए अर्थ में कुशल होने से इस प्रकार बोला—

असुर, नाग, विद्युत्, सुवर्ण, अग्नि, वायु, स्तनित, उदधि, द्वीप, दिशा, इस प्रकार दश तरह के भवनपति हैं। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व ये आठ प्रकार के वाण व्यंतर हैं। चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पांच ज्योतिषक देव हैं।

वहां कल्पवासी इस प्रकार हैं—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लातंक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (ये बारह प्रकार के वैमानिक वा कल्पवासी देव हैं)

कल्पातीत इस प्रकार हैं—

सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस्, सौमनस, प्रीतिकर और नंदिकर ये नव ग्रैवेयिक तथा विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान, इनमें जो देव हैं वे कल्पातीत हैं।

सौधर्म में दो सागरोपम, ईशान में कुछ अधिक, सनत्कुमार में सात, माहेन्द्र में सात से कुछ अधिक, ब्रह्म में दस, लान्तक में चौदह और शुक्र में सत्रह सागरोपम की स्थिति है। इसके बाद के पांच देवलोक तथा नौ ग्रैवेयक में एक २ सागरोपम अधिक जानो और पांच अनुत्तर में तेंतीस सागरोपम की स्थिति है।

भवनपति और व्यंतर की जघन्य से दश हजार वर्ष की स्थिति है, चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र में चौथाई पल्योपम और तारे में पल्योपम के अष्टमांश की स्थिति है, सौधर्म में पल्योपम, ईशान में कुछ अधिक, सनत्कुमार में दो सागरोपम, माहेन्द्र में कुछ अधिक, ब्रह्म में सात, लांतक में दश, शुक्र में चौदह और सहस्रार में सत्रह सागरोपम की स्थिति है इसके अनन्तर एक २ सागरोपम अधिक है।

सर्वार्थसिद्ध में जघन्य तथा उत्कृष्ट समान ही स्थिति है, उसके ऊपर देवता नहीं है।

ऋषिभद्रपुत्र का कहा हुआ यह अर्थ सत्य होने पर भी वे श्रावक उस पर श्रद्धा न करते हुए अपने घर आये।

अब वहां अतुल भक्ति से आये हुए प्रवर इन्द्रों के समूह से नमित और स्वर्ण समान प्रभा वाले वीर स्वामी पधारे।

उन जगत्त्राता के चरणों को प्रणाम करने के लिये श्री प्रवचन की प्रभावना पूर्वक ऋषिभद्रपुत्र के साथ वे समस्त श्रावक वहां आये। वे तीन प्रदक्षिणा दे भक्तिपूर्वक भगवान को नमन करके उचित स्थान पर बैठे। तब जगद्गुरु उनको इस प्रकार धर्म सुनाने लगे।

हे भव्यों! अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर अज्ञान का नाश करने को मल्ल समान प्रवचन में कहे हुए अर्थ की कुशलता में निरन्तर उद्यम करो।

इस प्रकार धर्म सुन कर वे जगत्प्रभु को ऋषिभद्रपुत्र की कही हुई उक्त सब देवों की स्थिति कहने लगे। तब संशय रूप रज हरने को पवन समान स्वामी बोले कि-हे भद्रों! मैं भी इसी प्रकार देवस्थिति कहता हूँ। यह सुन कर वे (श्रावक) श्रुतार्थ में कुशलमति ऋषिभद्रपुत्र को खमा कर प्रभु को नमन करके अपने २ घर को आये। ऋषिभद्रपुत्र भी प्रभु को वंदना कर, प्रश्न पूछ अपने घर आया और श्रेष्ठ कमल के समान प्रभु भी अन्य स्थलों में भव्यों को सुवासित करने लगे।

इस प्रकार सम्यक् रीति से ऋषिभद्रपुत्र चिरकाल गृहि-धर्म पालन कर, मासभक्त करके सौधर्म देवलोक में देवता हुआ। वहां अरुणाभ विमान में चार पल्योपम तक सुख भोग कर, वहां से च्यव कर महाविदेह में उत्पन्न हो, प्रवचन में कुशल होकर मुक्ति को जावेगा।

इस प्रकार हे भव्यों! ऋषिभद्रपुत्र का चरित्र बराबर सुन कर भवताप हरनेवाले प्रवचन के अर्थों में कुशलबुद्धि होओ।

उस्सग्गववायाणं विसयविभागं वियाणाइ ॥ ५३ ॥

मूल का अर्थ—उत्सर्ग और अपवाद के विषय विभाग को जाने।

टीका का अर्थ—जिन प्रवचन में प्रसिद्ध उत्सर्ग व अपवाद के विषय विभाग को याने करण प्रस्ताव को विशेष कर जाने। सारांश यह कि—केवल उत्सर्ग व केवल अपवाद को न पकड़ते अचलपुर के श्रावकों के समान उनका अवसर जाने। क्योंकि कहा है कि—ऊंचे की अपेक्षा से नीचा कहलाता है और नीचे की अपेक्षा से ऊंचा कहलाता है. इस भांति अन्योन्य की अपेक्षा रखते उत्सर्ग और अपवाद दोनों समान है यह जान कर अवसर के अनुसार इन दोनों में स्वल्प व्यय और विशेष लाभ वाली प्रवृत्ति करे।

अचलपुर के श्रावकों की कथा इस प्रकार है।

अत्यन्त भद्रशाल (वन) वाले और प्रचुर सुमनस् (देव) वाले कनकाचल के समान अति सुन्दर साल (गढ़) वाली और प्रचुर सुमनस् (सज्जन) वाली अचलपुर नामक नगरी थी। वहां जिन प्रवचन की प्रभावना करने में तत्पर और उत्सर्गापवाद के ज्ञाता बहुत से महर्द्धिक श्रावक रहते थे।

वहां कन्ना और बिन्ना नदियों के बीच में बहुत से तापस रहते थे। उनमें एक तापस पादलेप में बहुत होशियार था। वह पग पर लेप लगा कर उसके बल से नित्य पानी पर स्थल के समान

चलता था जिससे लोग विस्मित होते थे। उसे देख भारी मिथ्यात्व रूप ताप से तपे हुए मुग्ध-जन पाड़े के समान अन्य दर्शन रूप पंक में जटिलता से फंस गये। वे श्रावकों के सन्मुख बढ़ाई करने लगे कि-हमारे शासन में प्रत्यक्ष रीति से जैसा गुरु का प्रभाव दृष्टि में आता है वैसा तुम्हारे में नहीं। तब वे श्रावक इस भय से कि-कहीं मुग्ध-जनों को मिथ्यात्व में स्थिरता न हो जाय, उत्सर्ग मार्ग पकड़ कर उसे आंख से भी नहीं देखते थे।

अब वहां कुमत के प्रमोद रूप कैरव को मोड़ने में सूर्य समान वैरस्वामी के मामा श्री आर्यसमितसूरि का समागम हुआ। तब वे सर्व श्रावक धूमधाम से तुरन्त उनके सन्मुख आ पृथ्वी पर मस्तक नमा कर उनके चरणों को प्रणाम करने लगे। वे आंखों में अश्रु भर कर दीन वचन से अपने तीर्थ की ओर उक्त तापस का किया हुआ सम्पूर्ण तामसी असमंजस उनको कहने लगे।

तब गुरु बोले कि-हे श्रावकों! यह कपटी किसी पादलेप आदि उपाय से भोले लोगों को ठगता है। इस रंक तापस के पास तप की कुछ भी शक्ति नहीं। यह सुन वे गुरु को वंदना करके अपने घर आये। अब वे चतुर श्रावक अपवाद सेवन का समय जान कर उस तपस्वी को भोजन के लिये निमंत्रण करने लगे। वह तापस भी बहुत से लोगों के साथ एक श्रावक के घर आ पहुंचा। उसे देख कर वह समयज्ञ श्रावक सन्मुख उठ कर मान देने लगा। व उन्हें बैठा कर कहा कि-आपके चरण कमल धुलवाओ क्योंकि महापुरुषों के सन्मुख अर्थी की प्रार्थना विफल नहीं होती।

अब जलस्तंभ देखने को उत्सुक हुए लोगों से परिवारित वह तापस भोजन करके पुनः नदी के किनारे आ पहुंचा। उसने विचार किया कि अभी भी लेप का कुछ अंश रहा होगा, यह सोच ज्योंही वह पानी में पैठा त्योंही बुड़ बुड़ करता डूबने लगा। तब उसके डूब जाने पर लोग विचारने लगे कि—इस मायावी ने आने को आज तक कितना ठगा? यह सोच मिथ्यात्वी लोग भी जिन-धर्मानुरागी हुए।

अब उस समय नगर के लोग वहां ताली बजा २ कर तुमुल मचाने लगे। इतने में वहां योग संयोग के ज्ञाता आर्यसमिताचार्य पधारे। वे जिन शासन की प्रभावना करने के लिये नदी के मध्य भाग में योग विशेष (अमुक द्रव्य) डाल कर लोगों के सन्मुख इस प्रकार कहने लगे कि—

हे विन्ना नदी! हम तेरे दूसरे किनारे जाना चाहते हैं, तब [illegible] ही उसके दोनों किनारे जैसे संध्या समय चिंचोड़े के दो [illegible] मिलते हैं उस भांति साथ मिल गये। तब महान् आनन्द से [illegible]रिपूर्ण चतुर्विध संघ के साथ श्री आर्यसमिताचार्य नदी के दूसरे [illegible]रे पहूँचे। तब ऐसे प्रभावशाली आचार्य को देख कर वे सर्व तापस मिथ्यात्व का त्याग कर उनसे प्रव्रज्या लेने लगे। वे तापस ब्रह्मद्वीप में रहते थे। अतः उनके वंश से ब्रह्मदीपक के नाम से विद्वान साधु हुए। इस प्रकार कुमति के ताप का शमन करने वाले, भव्य जन के मन और नेत्र रूप मोर को आनन्द देने वाले वे नवीन मेघ के समान गुरु अन्य स्थल में विचरने

लगे। वे श्रावक भी चिरकाल जिन-प्रवचन की प्रभावना करते हुए गृहि-धर्म का पालन कर सुगति के भाजन हुए।

इस भांति उत्सर्ग और अपवाद में कुशल बुद्धिवाले, मिथ्यात्व रूप कक्ष को जलानेवाले, धर्म के लक्ष्य वाले, अति चतुर अचलपुर के श्रावक श्री तीर्थंकर के तीर्थ की स्वपरहितकारी प्रभावना करने को समर्थ हुए। अतएव हे भव्यों! तुम उसी में कुशलता धारण करो, जो कि विवेक रूप वृक्ष को बढ़ाने के लिये मेघ समान है।

इस प्रकार उत्सर्ग अपवाद रूप दोनों गुणों में अचलपुर के श्रावक समुदाय की कथा है।

इस प्रकार प्रवचन कुशल का उत्सर्ग-अपवाद रूप तीसरा और चौथा भेद कहा अब विधिसारानुष्ठान रूप पांचवां भेद का वर्णन करने के लिये आधी गाथा कहते हैं।

वहइ सइ पक्खवायं विहिसारे सव्वधम्मणुट्ठाणे।

मूल का अर्थ—विधि वाले सर्व धर्मानुष्ठान में सदैव पक्षपात धारण करते हैं।

टीका का अर्थ—विधिसार याने विधिप्रधान सर्व धर्मानुष्ठान, याने देव गुरु वन्दनादिक में सदैव पक्षपात याने बहुमान धारण करते हैं—इसका मतलब यह है कि अन्य विधि पालनेवालों का बहुमान करे और स्वयं आवश्यक सामग्री से यथाशक्ति विधि पूर्वक धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो। सामग्री न हो तो भी विधि आराधने के मनोरथ न छोड़े, इस तरह से भी वह आराधक होता है, ब्रह्मसेन सेठ के समान।

ब्रह्मसेन सेठ की कथा इस प्रकार है।

गंगा से सुशोभित नंदीवाली और वृषभ वाली शंभु की मूर्ति के समान यहां वैसी ही उत्तम वाराणसी नामक नगरी है। वहां

सेठ बोला कि-हे प्रभु ! यह तो अर्थ देखते अशक्य उपदेश है। मुनि बोले कि गृहस्थों के लिये पौषध व्रत है। वह सर्व से अथवा देश से द्विविध त्रिविध रीति से आहार वर्जन, अंग सत्कार वर्जन, अब्रह्म वर्जन और व्यापार वर्जन करना चाहिये। जब तक भाग्यशाली श्रावक यह व्रत धारण करता है तब तक वह यति के आचार का पालक माना जाता है।

यह सुन, इतने में कोई क्षेमंकर नामक श्रावक बोला कि-पौषध नाम के इस व्रत से मुझे काम नहीं। तब सेठ मुनि को नमन कर बोला कि यह श्रावक के कुल में जन्मा हुआ और स्वभाव से भद्रक है, तथापि इसे पौषध पर क्यों विरोध दीखता है ?

मुनि बोले कि-इस भव से तीसरे भव में कौशांबी नगरी में क्षेमदेव नामक एक वणिक था। तथा वहां जिनदेव और धनदेव नामक महान् ऋद्धिवन्त दो भाई थे। वे उत्तम श्रावक थे। अब जिनदेव कुटुम्ब का भार छोटे भाई को सौंप कर, पौषधशाला में विधिपूर्वक नित्य पौषध करता था। उसे एक दिन पौषध में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। तब ज्ञान के उपयोग से जान कर अपने छोटे भाई को कहने लगा। हे वत्स ! तेरा अब केवल दश दिन

आयुष्य है, अतः हे भाई! यथायोग्य सावधान होकर तू तेरा अर्थ साधन कर। तब धनदेव चैत्य में भारी पूजा कर निदान रहित मन से दीन-जनों को दान देकर संघ को खमा कर, अनशन ले स्वाध्याय ध्यान में तत्पर हो तृण के संथारे पर बैठा।

अब वहां क्षेमदेव बोल उठा कि-गृहस्थ तो ससंग होता है, अतः उसे ऐसा अवधिज्ञान कैसे हो सकता है? किंतु जो यह बात सत्य होगी तो बहुत अच्छा होगा, याने कि-मैं भी ज्ञानभानु के उदय के हेतु उदयाचल समान पौषध ग्रहण करूंगा। अब उस दिन नमस्कार स्मरण करता हुआ धनदेव मर कर बारहमें देवलोक में इन्द्र सामानिक देव हुआ। उस समय समीपस्थ देवों ने संतुष्ट हो कर सुगंधित जल व फूल की वृष्टि कर उसके कलेवर की अपूर्व महिमा की। यह देख कुछ श्रद्धा रख कर क्षेमदेव भी धर्म की इच्छा से प्रायः पौषध किया करता था।

वह एक समय आषाढ़ चातुर्मास की पूर्णिमा को पौषध व्रत लेकर रात्रि को तप के ताप तथा भूख, प्यास से पीड़ित हो सोचने लगा कि हाय हाय! भूख प्यास और घाम का कैसा दुःख है? इस प्रकार पौषध को अतिचार लगा कर मर गया। वह व्यंतर में देवता होकर यह क्षेमंकर हुआ है और पूर्व में पौषध से मरा था इससे अब उसके नाम से डरता है।

यह सुन ब्रह्मसेन मुनि को नमन कर, पौषध व्रत ले, अपने को धन्य मानता हुआ घर आया। उसी समय से ब्रह्मसेठ ने सुख से आजिविका प्राप्त करते पौषध व्रत करते हुए कुछ काल व्यतीत किया।

एक समय उस नगर के राजा के अपुत्र मरने पर उस नगर को दुश्मनों के विध्वंस करने से वह भला सेठ मगध देश में सीमा के

उनमें से उसके घर नित्य क्रय विक्रय करने के बहाने कोई दुष्टबुद्धिवाले चार पुरुष बैठते थे। जिससे उन्होंने जान लिया कि-सेठ का अमुक समय पौषध करने का अवसर है। अब धनसेन सेठ भी ब्रह्मचर्य के साथ विधिपूर्वक समय पर सोया। उसके सो जाने पर मध्यरात्रि के बाद वे मनुष्य उसके घर में सेंध लगा घुस कर लूटने लगे। तब सेठ जाग कर घर लुटता हुआ देखकर भी मेरु की भांति शुभ-ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगा। वह महान् संवेग से अपनी आत्मा को शिक्षा देने लगा कि-हे जीव! धन धान्य आदि परिग्रह में सर्वथा मोह मत रख। क्योंकि-यह बाह्य अनित्य, तुच्छ और महान दुःख का देने वाला है। अतएव इससे विपरीत जो धर्म है, उसमें दृढ़ चित्त रख।

इस प्रकार उस सेठ के मुख से आत्मा का शासन सुनकर वे इस भांति भव को नाश करने वाली भावना का ध्यान करने लगे। इस सेठ ही को धन्य है कि-जो अपने माल में भी निःस्पृह है, और हम मात्र अकेले अधन्य हैं कि-पराया माल हरने की इच्छा करते हैं।

तब वे लघुकर्मी होने से जाति स्मरण प्राप्तकर सब देवताओं से लिंग प्राप्त कर व्रत धारण किया।

अब सूर्योदय होने पर सहसा उन्हें साधु के वेष में देखकर, प्रणाम करके पूछने लगा कि-यह पूर्वापरविरुद्ध तुम्हारा क्या हाल हो गया। तब पवित्र करुणा के निधान वे मुनि बोले कि-यहां सद् लक्ष्मी से परिपूर्ण तुरुमिणी नामक नगरी है।

वहां केशरि नामक ब्राह्मण के निर्मल चित्त वाले हम आसन्न कल्याणी चार पुत्र थे। वे पिता के मर जाने पर शोकातुर हो, भव से उदास होकर, तीर्थ देखने की इच्छा से देशाटन को निकले। उन्होंने मार्ग में भूख आदि से मूर्छित एक मुनि को देखा, तो वे भक्ति से उसे शीघ्र सचेत करने लगे।

पश्चात् वे लक्ष्यपूर्वक उनसे धर्म सुनकर दीक्षा ले उनके साथ विचरते रहकर चौदह पूर्व सीखे। तो भी वे कुछ जाति-मद करते रहकर उत्तम अनशन कर, मर करके प्रथम स्वर्ग को गये। वहां से च्युत होकर वे सब इस भरतक्षेत्र में जातिमद से चोरों के कुल में हम उत्पन्न हुए।

वे ही हम आज तेरे घर को लूटते, तेरी अपनी आत्मा के प्रति की हुई अनुशिष्टि सुनकर जाति स्मरण पाकर व्रत लेकर बैठे हैं।

तूं भी आसन्न शिव संपत्ति वाला होने से विधि सहित धर्मानुष्ठान में दृढ़ मन रखने वाला है, अतः तुझे धर्मलाभ होओ। यह कह वे त्वरा रहित होते भी मुक्तिपुरी को जाने में सत्वर होने से अन्य स्थल में विचरने लगे।

ब्रह्मसेन भी चिरकाल तक उत्तम व्रतों का पालन कर, आराधना पूर्वक मर करके अव्यय पद को प्राप्त हुआ।

देसद्धाइणुरूवं जाणइ गीयत्थववहारं ॥ ५४ ॥

मूल का अर्थ—देश-काल आदि के अनुरूप गीतार्थ के व्यवहार को जाने।

टीका का अर्थ—देश सुस्थित वा दुस्थित आदि। काल सुकाल दुष्काल आदि। आदि शब्द से सुलभ दुर्लभ वस्तु तथा स्वस्थता, रुग्णता आदि लेना, उनके अनुकूल गीतार्थ व्यवहार को जाने। सारांश यह कि-उत्सर्गापवाद के ज्ञाता और गुरु लाघव के ज्ञान में निपुण गीतार्थों का जो व्यवहार हो उसे दूषित नहीं करे। ऐसा व्यवहार कौशल छठा भेद है। यह भेद उपलक्षण रूप से है। इससे ज्ञानादिक तीन आदि सर्व भावों में जो कुशल हो, उसे प्रवचन कुशल जानो। अभयकुमार के समान।

अभयकुमार की कथा इस प्रकार है।

पृथ्वी के स्वस्तिक समान सुशोभित अतुल ऋद्धि का स्थान, मनोहर मंगल परिपूर्ण राजगृह नामक नगर था। वहां दृढ़ जड़ डालकर ऊगे हुए घने मिथ्यात्व रूप वन का

यह सुन उनको लेने के इच्छुक जन डरते हुए ऊंचे कान से सिंहनाद सुनकर जैसे हिरन खड़े रहते हैं, वैसे स्थिर हो खड़े रहे। अभय बोला कि—विलम्ब क्यों करते हो ? वे बोले कि—यह लोकोत्तर कार्य है, इसे कौन कर सकता है ?

अभय बोला कि—उक्त मुनि ने ये तीनों बातें छोड़ दी हैं, अतः उन दुष्कारक पर तुम किस लिये हँसते हो ? लोग बोले कि—हे स्वामी ! उन ऋषि के सत्व को हम जान न सके, अतएव हे महामति मंत्री ! अब से उनको हम पूजेंगे।

पश्चात् श्रीमंत होते हुए वे अभयकुमार के साथ में जाकर उक्त मुनि को नमन करके बारंबार अपना अपराध खमाने लगे। इस समय जैन शासन के अर्थ में कुशल अभयकुमार ने भोले जनों को जिन भाषित धर्म में स्थापित किया।

इस प्रकार पाप मल के नाशक अभयकुमार के उज्वल चारित्र को सुनकर हे सज्जनों ! तुम सर्व मंगलकारी प्रवचनार्थ कुशलता सदैव धारण करो।

इस प्रकार अभयकुमार की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार व्यवहार कुशल रूप छठा भेद कहा, इसके पूर्ण होने से प्रवचन कुशल रूप भाव श्रावक का छठा लिंग पूर्ण हुआ, अतएव उसका उपसंहार करते हैं।

एसो पवयणकुसलो छब्भेओ मुणिवरेहि निद्दिट्ठो।
किरियागयाइं छ च्चिय लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥ ५५ ॥

गुरु बोले कि—युक्ति समाधि की जावेगी, यह कह वे वहां आये हुए अभयकुमार को कहने लगे कि—हमारा यहां से विहार होगा।

अभय बोला कि—हे प्रभु! एकाएक हम पर ऐसी अकृपा क्यों करते हो? तब उन्होंने उक्त मुनि का परीषह कहा। अभय बोला कि—एक दिवस रहिये, उतने में जो वह नहीं टले तो फिर न रहिये।

मुनि के यह बात स्वीकार कर लेने पर शासन की उन्नति में तत्पर और सद्धर्म की महिमा कराने वाला अभयकुमार अपने स्थान को आया।

उसने राजा के आंगन में तीन करोड़ उत्तम रत्न मंगवा कर उनके तीन ढेर करवाये। पश्चात् पड़ह बजवाया (घोषणा कराई) कि—राजा संतुष्ट हो कर तीन करोड़ रत्न देता है अतएव जिसको चाहिये वे ले जाओ।

तब उन्हें लेने को शीघ्र लोग एकत्रित हुए उनको अभयकुमार कहने लगा कि—प्रसन्नता से ये तीन करोड़ रत्न ले जाओ, किन्तु लेने के अनन्तर तुम को आजीवन पानी, अग्नि और स्त्री का त्याग करना पड़ेगा, यह शर्त है।

यह सुन उनको लेने के इच्छुक जन डरते हुए ऊंचे कान से सिंहनाद सुनकर जैसे हिरन खड़े रहते हैं, वैसे स्थिर हो खड़े रहे। अभय बोला कि–विलम्ब क्यों करते हो ? वे बोले कि–यह लोकोत्तर कार्य है, इसे कौन कर सकता है ?

अभय बोला कि–उक्त मुनि ने ये तीनों बातें छोड़ दी हैं, अतः उन दुष्कारक पर तुम किस लिये हँसते हो ? लोग बोले कि–हे स्वामी ! उन ऋषि के सत्व को हम जान न सके, अतएव हे महामति मंत्री ! अब से उनको हम पूजेंगे।

पश्चात् श्रीगंत होते हुए वे अभयकुमार के साथ में जाकर उक्त मुनि को नमन करके वारंबार अपना अपराध खमाने लगे। इस समय जैन शासन के अर्थ में कुशल अभयकुमार ने भोले जनों को जिन भाषित धर्म में स्थापित किया।

इस प्रकार पाप मल के नाशक अभयकुमार के उज्वल चारित्र को सुनकर हे सज्जनों ! तुम सर्व मंगलकारी प्रवचनार्थ कुशलता सदैव धारण करो।

इस प्रकार अभयकुमार की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार व्यवहार कुशल रूप छठा भेद कहा, उसके पूर्ण होने से प्रवचन कुशल रूप भाव श्रावक का छठा लिंग पूर्ण हुआ, अतएव उसका उपसंहार करते हैं।

एसो पवयणकुसलो छब्भेओ मुणिवरेहि निद्दिट्ठो।
किरियागयाइं छ च्चिय लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥ ५५ ॥

मूल का अर्थ – मुनिवरों ने छः भेद का यह प्रवचन कुशल कहा, इस तरह भाव श्रावक के क्रियागत अर्थात् क्रिया में जाने हुए ये छः लिंग ही हैं।

भावगयाइं सतरस मुणिणो एयस्स बिंति लिंगाइं ।
भणियजिणमयसारा पुव्वायरिया जओ आहु ॥ ५६ ॥

मूल का अर्थ—इसके भावगत सत्रह लिंग मुनि कहते हैं, क्योंकि जिनमत के सार के ज्ञाता पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार कहा है।

टीका का अर्थ—भावगत याने भाव में स्थित सत्रह ये प्रकृत–भावश्रावक के लिंग अर्थात् चिन्ह हैं, ऐसा मुनि याने आचार्य कहते हैं, क्योंकि जिनमत के सार के ज्ञाता पूर्वाचार्य इस भांति कहते हैं, इससे स्वबुद्धि का परिहार कह बताया।

इत्थिं[1]-दिय[2]-त्थ[3]-संसार[4]-विसय[5]-आरंभ[6]-गेह[7]-दंसणओ[8] ।
गड्डरिगाइपवाहे[9] — पुरस्सरं आगम पवित्ती[10] ॥ ५७ ॥

दाणाइ जहासत्ती–पवत्तणं[11] — विहि[12] — अरत्तदुट्ठे य[13] ।
मज्झत्थ[14] — मसंबद्धो[15] — परत्थकामोवभोगी[16] य ॥५८॥

वेसा इव गिहवासं पालइ[१७] सत्तरसपयनिबद्धं तु ।
भावगय भावसावग-लक्खणमेयं समासेणं ॥ ५९ ॥

मूल का अर्थ—स्त्री, इन्द्रिय, अर्थ, संसार, विषय, आरंभ, घर, दर्शन, गड्डरिप्रवाह, आगमपुरस्सरप्रवृत्ति, यथाशक्ति दानादिक की प्रवृत्ति, विधि, अरक्तद्विष्ट, मध्यस्थ, असंबद्ध, परार्थकामोपभोगी और वेश्या समान गृहवास का पालने वाला, इस तरह सत्रह पद से समास करके भावश्रावक के भावगत लक्षण हैं। ५७–५८–५९

इन गाथाओं की व्याख्या—

स्त्री, इन्द्रियां, अर्थ, संसार, विषय, आरंभ, गेह तथा दर्शन इनका द्वन्द है, पश्चात् उस पर तस्, प्रत्यय लगाया हुआ है, अतः इन विषयों में भाव श्रावक का भावगत लक्षण होता है।

इस प्रकार तीसरी गाथा में जोड़ने का सो, तथा गड्डरिका प्रवाह संबंधी तथा पुरस्सर आगम प्रवृत्ति इस पद में प्राकृतपन से तथा छंद भंग के भय से पद आगे पीछे रखे हैं, उनका अन्वय करने से आगम पुरस्सर प्रवृत्ति अर्थात् धर्म कार्य में वर्तन, यह भी लिंग है, तथा दानादिक में यथाशक्ति प्रवृत्त होना क्योंकि वैसे चिन्ह वाला पुरुष धर्मानुष्ठान करने में शरमाता नहीं, तथा सांसारिक बातों में अरक्तद्विष्ट हो धर्म विचार में मध्यस्थ हो जिससे राग द्वेष में बाध्य नहीं होता, असंबद्ध याने धन स्वजनादिक में प्रतिबंध रहित हो, परार्थ कामोपभोगी हो, याने दूसरे के हेतु अर्थात् उपरोध से काम याने शब्द और रूप तथा उपभोग याने गंध, रस, स्पर्श में प्रवृत्ति करने वाला हो, वैसे ही वेश्या याने पण्यांगना जैसे कामी पर ऊपरी [illegible]

करती है वैसे गृहवास का पालन करे, याने इसको आज वा कल छोड़ना है, ऐसा सोचता हुआ रहे, इस प्रकार सत्रह पद में बांधा हुआ भावश्रावक का भावगत लक्षण समास द्वारा याने सूचना मात्र से है, इस प्रकार तीन गाथा का अक्षरार्थ है।

अब जैसा उद्देश्य हो वैसा ही निर्देश होता है, इस न्याय से पहिले स्त्री रूप भेद का वर्णन करते हैं।

इत्थिं अणत्थभवणं चलचित्तं नरयवत्तणीभूयं।
जाणंतो हियकामी वसवत्ती होइ नहु तीसे ॥ ६० ॥

मूल का अर्थ—स्त्री को अनर्थ की खानि, चंचल और नरक के मार्ग समान जानता हुआ हितकामी पुरुष उसके वश में नहीं होता।

टीका का अर्थ—स्त्री को कुशीलता नृशंसता आदि दोष की भवन याने उत्पत्ति स्थान (खानि) तथा अन्य अन्य को चाहने वाली होने से चलचित्त तथा नरक की वर्त्तनीभूत अर्थात् मार्ग समान जानता हुआ हितकामी याने श्रेयका अभिलाषी पुरुष वशवर्त्ती याने उसके आधीन कदापि न हो, काष्ट सेठ के समान।

काष्टसेठ की कथा इस प्रकार है।

राजगृह नगर रूप मलयाचल में सुरभि गुणयुक्त चंदन काष्ट के समान काष्ट सेठ रहता था और उसकी वज्रा नामक स्त्री थी। उसके सागरदत्त नामक पुत्र था, मदना नामक सुन्दर मैना थी, तुंडिक नामक तोता था, और एक सुलक्षण मुर्गा था।

अब एक समय सेठ अपनी स्त्री को घर सम्हालकर व्यापार के हेतु विदेश गया, उस समय वह स्त्री फुल्ल नामक वटुक के साथ मर्यादा त्याग कर वर्त्ताव करने लगी। उस वटुक को समय

असमय घर में आता जाता देख कर क्रोध से लाल नेत्र कर मैना उच्च शब्द से कल कलाहट करने लगी।

वह बोली कि–मेरे सेठ के घर यह कौन निर्लज्ज असमय आता है? क्या वह सेठ से डरता नहीं? क्या उसके दिन पूरे हो गये हैं। तब उसे तोता क्षीर समान वचनों से कहने लगा कि–हे मैना! तू बिलकुल मौन रह जो बज्रा को प्यारा है वही अपना सेठ है।

तब मैना उसे कहने लगी कि–हे पापिष्ठ! तू अपने जीवन में तृष्णावाला है, स्वामी के घर में अकार्य करने वाले की भी क्यों प्रशंसा करता है?

वह बोला कि–तुझे मार डालेंगे, तो भी मैना चुप न हुई, अतएव उसके कोमल कंठ को उसने पैर से कुचल डाला। इतने में एक समय उस घर में भिक्षा के लिये दो मुनि घुसे, उनमें बड़ा मुनि सामुद्रिक का ज्ञाता होने से छोटे मुनि को कहने लगा कि–

इस श्रेष्ठ मुर्गे का सिर जो खावेगा वह राजा होगा, यह बात छिप कर खड़े हुए वटुक ने सुनी। तब वह बज्रा को कहने लगा कि–मुझे शीघ्र ही मुर्गे का मांस दे, तब वह बोली कि–दूसरे मुर्गे का मांस ला देती हूँ तब वह बोला कि–वह मुझे नहीं चाहिये।

तब महान् पाप के भार से दबी हुई बज्रा ने प्रातःकाल उस चरणायुध (मुर्गे) को मारकर उसका मांस पकाया। उसे तत्व की खबर नहीं थी, इससे उसने उस मुर्गे के सिर का मांस लेखशाला से आकर खाने के लिये रोते हुए पुत्र ही को दे दिया।

करती है वैसे गृहवास का पालन करे, याने इसको आज या कल छोड़ना है, ऐसा सोचता हुआ रहे, इस प्रकार सत्रह पद में बांधा हुआ भावश्रावक का भावगत लक्षण समास द्वारा याने सूचना मात्र से है, इस प्रकार तीन गाथा का अक्षरार्थ है।

अब जैसा उद्देश्य हो वैसा ही निर्देश होता है, इस न्याय से पहिले स्त्री रूप भेद का वर्णन करते हैं।

इत्थिं अणत्थभवणं चलचित्तं नरयवत्तणीभूयं।
जाणंतो हियकामी वसवत्ती होइ नहु तीसे ॥ ६० ॥

मूल का अर्थ—स्त्री को अनर्थ की खानि, चंचल और नरक के मार्ग समान जानता हुआ हितकामी पुरुष उसके वश में नहीं होता।

टीका का अर्थ—स्त्री को कुशीलता नृशंसता आदि दोष की भवन याने उत्पत्ति स्थान (खानि) तथा अन्य अन्य को चाहने वाली होने से चलचित्त तथा नरक की वर्त्तनीभूत अर्थात् मार्ग समान जानता हुआ हितकामी याने श्रेयका अभिलाषी पुरुष वशवर्त्ती याने उसके आधीन कदापि न हो, काष्ट सेठ के समान।

काष्टसेठ की कथा इस प्रकार है।

राजगृह नगर रूप मलयाचल में सुरभि गुणयुक्त चंदन काष्ट के समान काष्ट सेठ रहता था और उसकी वज्रा नामक स्त्री थी। उसके सागरदत्त नामक पुत्र था, मदना नामक सुन्दर मैना थी, तुंडिक नामक तोता था, और एक सुलक्षण मुर्गा था।

अब एक समय सेठ अपनी स्त्री को घर सम्हालकर व्यापार के हेतु विदेश गया, उस समय वह स्त्री कुञ्ज नामक बटुक के साथ मर्यादा त्याग कर बर्त्ताव करने लगी। उस बटुक को समय

असमय घर में आता जाता देख कर क्रोध से लाल नेत्र कर मैना उच्च शब्द से कल कलाहट करने लगी।

वह बोली कि-मेरे सेठ के घर यह कौन निर्लज्ज असमय आता है ? क्या वह सेठ से डरता नहीं ? क्या उसके दिन पूरे हो गये हैं। तब इसे तोता क्षीर समान वचनों से कहने लगा कि-हे मैना ! तू बिलकुल मौन रह जो वज्रा को प्यारा है वही अपना सेठ है।

तब मैना उसे कहने लगी कि-हे पापिष्ठ ! तू अपने जीवन में तृष्णावाला है, स्वामी के घर में अकार्य करने वाले की भी क्यों प्रशंसा करता है ?

वह बोला कि-तुझे मार डालेंगे, तो भी मैना चुप न हुई, अतएव उसके कोमल कंठ को उसने पैर से कुचल डाला। इतने में एक समय उस घर में भिक्षा के लिये दो मुनि घुसे, उनमें बड़ा मुनि सामुद्रिक का ज्ञाता होने से छोटे मुनि को कहने लगा कि-

इस श्रेष्ठ मुर्गे का सिर जो खावेगा वह राजा होगा, यह बात छिप कर खड़े हुए बटुक ने सुनी। तब वह वज्रा को कहने लगा कि-मुझे शीघ्र ही मुर्गे का मांस दे, तब वह बोली कि-दूसरे मुर्गे का मांस ला देती हूँ तब वह बोला कि-वह मुझे नहीं चाहिये।

तब महान् पाप के भार से दबी हुई वज्रा ने प्रातःकाल उस चरणायुध (मुर्गे) को मारकर उसका मांस पकाया। उसे तत्व की खबर नहीं थी, इससे उसने उस मुर्गे के सिर का मांस लेखशाला से आकर खाने के लिये रोते हुए पुत्र ही को दे दिया।

वह खाकर चला गया, इतने में शीघ्र ही वटुक वहां आया, वह उक्त मांस खाने लगा, किन्तु उसमें मांजरी नहीं देखकर वज्रा को पूछने लगा कि–मांजरी का मांस कहां है? वज्रा बोली कि–वह तो पुत्र को दे दिया, तब वह बोला कि–जो मेरा काम हो तो पुत्र को भी मार डाल।

तब उस दुर्गति गामिनी, सुगतिपुर जाने के मार्ग में चलने को पंगु हुई, अविवेक की भूमिका और कामबाण से विद्ध हुई। और लज्जा-मर्यादा-विहीन वज्रा ने यह भी स्वीकार किया, यह बात सागरदत्त की धाय माता ने सुनी।

जिससे वह उसे कमर पर उठाकर चंपापुरी में भाग आई, वहां उस समय राजा अपुत्र मर गया था जिससे पंच दिव्य किये गए। उन दिव्यों से संपूर्ण पुण्य के उदय से सागरदत्त राज्य पर अभिषिक्त हुआ, वह बड़े २ सामंतों से नमन कराता हुआ स्वस्थता से राज्य पालन करने लगा।

वह धाय माता द्वारा कमर पर लाया गया था इससे वह धात्रीवाहन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इधर कामासक्त वज्रा ने घर का सार उड़ा देने से सब नौकर चाकर सीदाते हुए इधर उधर लग गये।

इतने में काष्ट सेठ बहुत सा द्रव्य उपार्जन करके अपने घर आया, वह घर की दशा देख विस्मित हो वज्रा को पूछने लगा कि–हे प्रिया! पुत्र कहां है? धाय कहां है? वह मैना कहां है? धन कहां है? वह मुर्गा कहां है? और नौकर चाकर कहां हैं?

ऐसा पूछने पर भी उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तब कष्ट से काष्टपिंजर में बंद तोते से उसने पूछा। तब उसने अपनी

साड़ी का कपड़ा जलाकर उसे खूब डराया, तब वह श्रेष्ठ बुद्धि तोता कांपता कांपता सेठ को कहने लगा—

हे तात ! आप मुझे बार बार पूछते हो, अतः मैं बाव और खाई के बीच में पड़ा हूँ, अतएव क्या करूं ? तब सेठ ने उसे पींजरे से निकाल दिया, तब वह घर के आंगन में खड़े हुए ऊंचे वृक्ष के शिखर पर बैठ कर सब पूर्ववृत्तान्त जो कुछ वह जानता था वह कह गया।

पश्चात् सेठ को नमन करके वह अपने इच्छानुसार स्थान को उड़ गया, अब सेठ उसका चरित्र सुनकर, मन में इस प्रकार विचार करने लगा—

स्त्रियों का अस्थिर प्रेम देखो ! चंचलता देखो, निर्दयता देखो, कामसक्ति देखो और कपट देखो !

तथा स्त्रियां मछलियों को पकड़ने की मजबूत जाल के समान, हाथी को पकड़ने के फंदे समान, हिरणों को पकड़ने को चारों ओर बिछाई हुई वागुरा के समान और इच्छानुसार भ्रमण करने वाले पक्षियों को पकड़ने को बनाये हुए खटके के समान इस संसार में विवेक रहित को बंधन के लिये हैं।

स्नेह (तेल) से भरी हुई, सकज्जलग्गा (काजल उत्पन्न करने वाली), स्नेह (तेल) को क्षय करने वाली, कलुष और मलीन करने वाली दीपशिखा के समान स्नेह (प्रीति) से पाली हुई, स्वकार्यलग्न (स्वार्थी) स्नेह का क्षय करने वाली, कलुष और मलीन करने वाली महिला है, अतः उसको त्याग दो।

जल (पानी) वाली, दुरंत, द्विपक्ष का क्षय करने वाली, दूराकार (टेढ़ी बांकी), विषम पक्ष वाली और नीचगामिनी

(नीचे बहने वाली) नदी के समान महिला भी जड़ को पकड़ने वाली दुरंत, पितृ व श्वसुर दोनों पक्षों का नाश करने वाली, दुराचारिणी, विषम मार्ग में नीच के साथ चलने वाली है अतएव उसका त्याग करो।

इस प्रकार बराबर सोचकर उसने सम्पूर्ण धन धर्ममार्ग में देकर कर्मरूप गिरि को तोड़ने के लिये वज्र समान दीक्षा ग्रहण की।

अब वज्रा भी राजा के भय से भागकर बटुक के साथ चंपा में आकर रहने लगी क्योंकि उसका पुत्र वहां का राजा है ऐसी उसको खबर नहीं थी। अब काष्ट मुनि महान् तप में परायण रहकर गीतार्थ हो एकाएक विचरते हुए किसी समय चंपा में आये।

वहां वे भिक्षार्थ घर घर भ्रमण करते हुए वज्रा के घर में आये, उसने जान लिया कि—यह मेरा पति है।

अतएव यह लोगों में मेरे दोष अवश्य कह देगा, तो मैं ऐसा करूं कि—जिससे इसका शीघ्र देश निकाला हो।

जिससे उसने सोना सहित मंडक (मांडो आदि) उनको दिये, उन्होंने सहसा ले लिये, तब उसने चोर २ करके चिल्लाया।

जिससे कोतवाल ने वहां आकर उनको पकड़ा व राजमंदिर में लाया उन्हें सहसा धाय ने देख लिया और पहिचान लिया।

जिससे वह उनके चरणों में गिरकर सिसक सिसक कर रोने लगी, तब राजा ने कहा कि—हे अंबा ! तू अकारण क्यों रोती है? तब वह गद्गद् स्वर से कहने लगी कि—ये तेरे पिता हैं और इन्होंने दीक्षा ले ली है, इनको मैंने बहुत समय में देखा इसलिये हे वत्स ! मैं रोती हूँ।

तब राजा ने उन्हें घर में बुला कर, आसन पर बैठा कर कहा कि–आप यह राज्य लीजिए, मैं आपका किंकर हूँ। तब साधु बोले कि–हे नरवर! हम निःस्पृह और निसंग हैं अतः हमको पाप कर्म से भरपूर राज्य का क्या काम है?

अतएव तू भी सुरनर और मोक्ष की लक्ष्मी संपादन कर देने में समर्थ जिनधर्म का यथाशक्ति पालन कर।

यह सुनकर नरेन्द्र ने प्रसन्न हो काष्ठ मुनि से निर्मल सम्यक्त्व के साथ गृहिधर्म स्वीकार किया। यह वृत्तान्त सुनकर वज्रा को मानो वज्र का घाव लगा, जिससे वह राजा के भय से भयातुर हो बटुक के साथ भाग गई।

पश्चात् राजा की प्रार्थना से मुनि वहीं चातुर्मास रहे और बहुत से लोगों को प्रतिबोधित कर अनेक प्रकार से प्रवचन की प्रभावना करने लगे।

वे तप द्वारा अज्ञानी मनुष्यों को भी चमत्कृत करते हुए चिरकाल तक निर्मल व्रत पालन कर सुगति को गए। इस प्रकार काष्ठश्रेष्ठि का अवंचक पन तथा वैराग्य पूर्ण शुद्ध वृत्तान्त सुनकर हे भव्यजनों! तुम सर्व दोषों की खानि स्त्रीयों के वश में मत होओ।

इस प्रकार काष्ठसेठ की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में स्त्री रूप प्रथम भेद कहा अब इन्द्रिय नामक दूसरे भेद की व्याख्या करते हैं—

इंदियचवलतुरंगे दुग्गइमग्गाणुधाविरे निच्चं।
भावियभवस्सरूवो रुंभइ सन्नाणरस्सीहिं ॥ ६१ ॥

मूल का अर्थ—इन्द्रियां रूप चपल घोड़े सदैव दुर्गति के मार्ग की ओर दौड़ने वाले हैं, उनको संसार का स्वरूप समझने वाला पुरुष सम्यक् ज्ञान रूप रस्सी से रोक रखता है।

टीका का अर्थ—यहां इन्द्रियां पांच हैं-श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन उनका विशेष वर्णन इस प्रकार है—

श्रोत्रादिक पांच इन्द्रियां द्रव्य से दो भेदों में विभाजित की हुई हैं, एक निर्वृत्ति रूप और दूसरी उपकरण रूप वहां निर्वृत्ति याने आकार समझना चाहिये।

वे बाहर से विचित्र होती हैं, और अंदर इस प्रकार हैं—कलंबुका का पुष्प, मसूर का दाना, अतिमुक्तलता, चंद्र और क्षुरप्र इन पांच आकारों की पांच इन्द्रियां है।

विषय का ग्रहण करने में समर्थ हो वह उपकरणेन्द्रिय कहलाती है, कारण कि निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय के होते हुए उपकरणेन्द्रिय का उपघात हुआ हो तो विषय ग्रहण नहीं होता।

उपकरणेन्द्रिय भी इन्द्रियांतर याने द्रव्येंद्रिय का दूसरा भेद है।

भावेन्द्रिय का स्वरूप इस प्रकार है।

भावेन्द्रिय दो प्रकार की हैं-लब्धिरूप और उपयोगरूप लब्धि याने उसके आवरण क्षयोपशम लब्धि होने हैं, तभी ~ र इन्द्रियां मिलती हैं, याने कि, लब्धि प्राप्त होने ही से द्रव्येन्द्रियां होती हैं।

उपयोग (इन्द्रिय) इस प्रकार है—अपने २ विषय का व्यापार सो उपयोग जानो, वह एक समय में एक होता है जिससे एक

इन्द्रिय द्वारा जान सकता है, अतः उपयोग के हिसाब से सब एकेन्द्रिय होते हैं।

तब द्वीन्द्रिय आदि भेद कैसे होते हैं, इसके लिये कहते हैं—शेष इन्द्रियों की अपेक्षा से जीवों के एकेन्द्रियादिक भेद पड़ते हैं, इसी प्रकार लब्धि की अपेक्षा से सर्व पंचेन्द्रिय हैं।

सर्व पंचेन्द्रिय क्यों हैं ? उसके लिये कहते हैं जैसे बकुलादिक को शेष इन्द्रियां भी उपलंभ दीखती हैं, उससे उनको तदावरण के क्षयोपशम का संभव है।

पंचेन्द्रिय मनुष्य के समान बकुल वृक्ष विषय का उपलंभ करता है, तथापि बाह्य इन्द्रियों के अभाव से वह पंचेद्रिय नहीं माना जाता।

वैसे ही कुंभार सोता रहने पर भी कुंभ बनाने की शक्ति वाला होने से कुंभकार कहलाता है, वैसे बाह्य इन्द्रियों से रहित होने पर भी लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय कहा जा सकता है।

चक्षु का उत्कृष्ट विषय अंगुल अधिक लक्ष योजन है, त्वचा का उत्कृष्ट विषय नव योजन है, श्रोत्र का उत्कृष्ट विषय बारह योजन है, जघन्य विषय सबका अंगुल का असंख्यातवां भाग है।

भास्वर द्रव्य के आधार से अधिक विषय भी रहते हैं, क्योंकि पुष्करार्द्ध द्वीप के मनुष्य पूर्व पश्चिम ओर इक्कीस लाख चौंतीस हजार पांच सौ सैंतीस योजन पर उदय हुए सूर्य को देख सकते हैं।

इन्द्रियां चपल याने शीघ्रगामी घोड़े हैं, वे दुर्गति मार्ग में दौड़ने वाले हैं, उनको सदैव भवस्वरूप की भावना करने

वाला याने बारंबार आलोचना करने वाला पुरुष ज्ञानरूप रस्सियों से रोक रखता है, विजय कुमार के समान।

विजयकुमार की कथा इस प्रकार है—

गुणवृद्धि और निषेध रहित, गुरु-लाघव युक्त वर्णन्यास से परिमुक्त ऐसी अपूर्व लक्षणवृत्ति (व्याकरण वृत्ति) के समान गुण की वृद्धि की रुकावट से निराली और गुरुलघु (छोटे बड़े) व्रणों के नाश से परिमुक्त कुणाला नामक नगरी थी।

वहां सकल शत्रुओं का नाश करने वाला आहवमल्ल नामक राजा था, उसको अपने मुख से कमल की लक्ष्मी को जीतने वाली कमल श्री नामक रानी थी।

उनके विजयकुमार नामक पुत्र था, वह अपनी शक्ति से सहज में कार्तिकस्वामी कुमार को भी हलका करता था, अपने रूप से कामदेव को जीतने वाला था और सकल इन्द्रियों के विकार को रोकने वाला था।

वह बाल्यावस्था ही से रूपवान होने से उसको पुत्रार्थी विद्याधर हरण करके वैताढ्य की सुरम्य नगरी में लाया।

उक्त अमिततेज नामक विद्याधर ने उसे अपनी रत्नावली देवी को दिया अतः उसने प्रसन्न हो पुत्रवत स्वीकार किया।

पश्चात् वह सुख पूर्वक पाला गया और वह सर्व कलाएं सीख कर क्रमशः सौभाग्यशाली यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। उसे देख कर इन्द्रिय रूप तस्करों से ज्ञान रूप उत्तम रत्न का हरण हो जाने से रत्नावली उसको एकान्त में इस प्रकार कहने लगी—

हे सुभग ! तू कमलश्री व आहवमल्ल राजा का पुत्र है और

तुझे कुणालापुरी से मेरा अपुत्र पति यहां लाया है। इसलिये तूं अपना यह सौभाग्य, रूप तथा यौवन मेरे साथ संगम करके सफल कर, ताकि मैं तुझे सर्व विद्याएं दूं। जिससे तूं इस सुरम्य नगरी में विद्याधरों का चक्रवर्ती होकर, राज्य-श्री का भोग करेगा, और मेरे साथ विषयसुख भी भोगेगा।

इस प्रकार उसका कान के सुख को हरने के लिये वज्रनिपात समान वचन सुनकर विजयकुमार मन में इस भांति विचार करने लगा-इसने अभी तक मुझे पुत्रवत् पालन करके ऐसा अकार्य विचारा, अतः स्त्री के स्वभाव को धिक्कार हो।

तो भी इस समय इसके पास से विद्याएँ ले लूं, यह सोच उसने कहा कि-मुझे विद्याएं दे। उसने मतिहीन हो उसको विद्याएँ देदीं, तब कुमार कहने लगा कि-हे माता! अभी तक मैंने तुझे मातृवत् माना है अतः मैं तुझे प्रणाम करता हूँ।

तथा तेरे प्रसाद से मैंने विद्याएं जानी हैं, अतएव आज से तो तूं विशेषकर मेरी गुरु समान है। अतएव हे माता! यह दुश्चिन्त्य असंभव दुश्चरित जब तक पिता न जाने तब तक तूं इस पाप से अलग होजा।

कुमार का इस प्रकार निश्चय जानकर वह क्रुद्ध होकर बोली कि-हे पुत्र! तूं कामासक्त होकर मुझे प्रार्थना मत कर, कारण कि तूं पुत्र है।

अथवा इसमें तेरा दोष नहीं है, जाति और रूप ही तेरे आचरण हैं, तूं कोई अकुलीन है, जिनको जन्म न दिया वे पुत्र हो ही कैसे सकते हैं? ऐसे उसके वचन से अति विस्मित हो कुमार ने सोचा कि-कामासक्त स्त्री कपट से क्या नहीं करती?

सदैव मलीन चित्तवाली महिला धन का नाश करती है, पति को मारती है, पुत्र की भी इच्छा करती है तथा अभक्ष्य का भी भक्षण करती है। तथा स्त्री अशुचिपन, अलीकपन, निर्दयपन, वंचकपन व अतिकामासक्तपन इन की स्थान-भूत है।

स्त्री के संग से या तो मृत्यु होती है या विदेश में जाना पड़ता है, या दरिद्रिता प्राप्त होती है, या दुर्भाग्य प्राप्त होता है या चिरकाल तक संसार में भटकना पड़ता है। अतः जो यह बात पिता को कहूँगा तो वे मानेंगे नहीं क्योंकि प्रायः सभी स्त्रियों के वचन पर अधिक विश्वास रखते हैं।

जो रहता हूँ तो विरोध होता है, जो चला जाऊँ तो यह बात सत्य मानी जावेगी, तथापि पिता के साथ विरोध करना उचित नहीं।

तथा क्रोध पर चढ़ा हुआ मारता है, लोभ पर चढ़ा हुआ सर्वस्व हरण करता है, मान पर चढ़ा हुआ अपमान करता है और माया वाला सर्प के समान डसता है। परन्तु यह तो कामासक्त, अत्यन्त मायावाली, कूट कपट की खानि तथा लज्जा, नीति और करुणा से रहित इसलिये इसको किसी भी प्रकार से त्यागना चाहिये।

यह सोच विद्यावल युक्त कुमार तलवार लेकर, आकाश में उड़ता हुआ शीघ्र ही अपने पिता की कुणाला नगरी में आ पहुँचा। वहां अपनी माता कमलश्री को शोक से गाल पर हाथ दिये हुए बैठा देखकर उसके पग के समीप जाकर अपने को प्रकट करने लगा। पश्चात् उसने अपने मातापिता आदि सब लोगों को प्रणाम किया तब उसे अपना पुत्र जानकर कमलश्री मस्तक चूमने लगी।

उसका पिता भी हर्षित हो कुमार को प्रारंभ से लेकर वृत्तान्त पूछने लगा, तब कुमार ने उक्त सकल वृत्तान्त कह सुनाया, इतने में वहां एक दूत आया। उसने आहवमल्ल को कहा कि–आपको अयोध्या नगरी में जयवर्य राजा शीघ्र ही अपनी सेवा के लिये बुलाते हैं। दूत का वचन सुनकर विजयकुमार कहने लगा कि–अरे! इस भारतवर्ष में हमारा भी दूसरा स्वामी हो सकता है क्या?

तब कुमार को राजा कहने लगा कि–हे वत्स! वह राजा अपना सदैव से स्वामी है, और वह अपना साधर्मी, सुमित्र और विशेषकर अपनी ओर ठीक कृपा रखता है। अतः मुझे अवश्य वहां जाना चाहिये, और तू चिरकाल में आया है अतः तेरी माता के पास रह जिससे कि–वह प्रसन्न रहे।

तब जैसे तैसे समझाकर कुमार पिता की आज्ञा लेकर थोड़े ही दिनों में वहां हाथी, रथ तथा पैदलों के साथ आ पहुँचा। वहां अवसर पाकर कुमार ने अपने परिजनों के साथ राजसभा में आकर उस राजा को नमन किया, जिससे उसे भली भांति सन्मान मिला। पश्चात् उसके विज्ञान, कला, लावण्य, रूप, नीति, उदारता और पराक्रम आदि गुणों से उस नगरी में उसका निर्मल यश फैला।

इतने में उस सभा में राजा जयवर्य की पुत्री शीलवती अपने पिता को प्रणाम करने के लिये बहुत से परिवार के साथ आई। वह ताक कर कुमार को देखने लगी, जिससे सखियां उस पर हंसने लगी, व वह पिता की शरम से वापस अपने घर आ गई।

तब जयवर्य राजा ने कुमार का उत्तम रूप देखकर शीलवती उसे दी व उसका विवाह करना प्रारम्भ किया। इतने में शान्त-जनों को अनुपशान्त (विकार युक्त) करने वाला वसंत-ऋतु आने पर राजा अपने परिजन सहित उद्यान में गया।

वहां वह स्नान क्रीड़ा करने लगा। इतने में किसी विद्याधर ने कुमार के वेष से शीलवती को हरण की। तब उस कपट को न जानकर शीलवती ने उसको कहा कि हे सुभग ! हास्य मत कर, मैं सखियों से लज्जित होती हूँ, अतः मुझे शीघ्र छोड़ दे। इतने में परिजनों के साथ में डरती हुई सखियों ने चिल्लाया कि हे देव ! देखो, देखो !! शीलवती को कोई आकाश में लिये जाता है।

यह सुन राजा अत्यन्त रोष से लाल आंखें कर, हाथ में तलवार ले, क्रुद्ध हो शीघ्र इधर उधर दौड़ने लगा। उसी भांति महान योद्धा सुभट भी हथियार ले ले कर भूमि को प्रहार करते हुए लड़ने के लिये तैयार होकर उठे।

तथापि वह शूर राजा भूचर था अतः खेचर (आकाश-गामी) का क्या कर सकता था ? अथवा सत्य है कि, पुत्रियों के कारण महान पुरुष भी परिभव पाते हैं।

राजा विचार करने लगा कि — मैं शस्त्र, अस्त्र और नीति में तत्पर रहता हूं, तो भी इस जलक्रीड़ा में विव्हल हो गया जिससे यह परिभव हुआ।

वस्तुतः में कन्या का पिता होना यह एक कष्ट ही है। क्योंकि कन्या का जन्म होते ही भारी चिन्ता और शोक उत्पन्न होते हैं, और उसे किसे देना यह महान विकल्प हो जाता है। विवाह कर देने के अनन्तर भी सुख से रहेगी या नहीं, यह विचार

आया करता है। अथवा धातुवाद, रसायन, यंत्र, वशीकरण और खान की नाद में चढ़ने से व क्रीड़ा के व्यसन से श्रेष्ठ मनुष्य भी भारी कष्ट में आ पड़ते हैं।

इस भांति बहुत देर तक सोचकर राजा कुमार को कहने लगा कि-हे महाबलवान कुमार! तूं शीघ्र ही उसके पीछे जा, क्योंकि-तूं आकाश में जा सकता है तब विजयकुमार बोला कि-हे प्रभु! जो पांच दिन के अन्दर तुम्हारी पुत्री को न ले आऊं, तो फिर मैं यावज्जीवन् विवाह नहीं करूंगा।

यह कह कर कुमार हाथ में तलवार लेकर आकाश में उड़ा। वह प्रतिज्ञा करके विद्याधर के पीछे जाने लगा। इतने में उसने उस खेचर को समुद्र के बीच में स्थित विमलशैल पर्वत के शिखर पर देखा, तब वह उसे इस प्रकार कठोर वचनों से पुकारने लगा —

अरे! खड़ा रह, खड़ा रह, शरण बुलाले कायर होकर कहां जाता है? क्या मेरे बल को नहीं जानता है? जो कि राजा की पुत्री को हरण कर लिये जा रहा है? तब वह विद्याधर भी उसके वचन से अत्यन्त मत्सर-युक्त हो उसे चक्र-रत्न के अति तीक्ष्ण चक्र से प्रहार करने लगा।

तब कुमार ने बिजली के समान चंचल तलवार से उस प्रहार को चुका कर विद्या के बल से उसके मस्तक से मुकुट गिरा दिया। तब कुमार का बल जान कर राज-पुत्री को वहीं छोड़कर वह अतिकुपित हो, किष्किन्ध पर्वत के शिखर पर आया। वहां वे दोनों पांच दिन तक घोर युद्ध करते रहे इतने में कुमार ने जैसे तैसे उसे हरा दिया, तो वह भागा

वालों को सचमुच इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, आपदाएँ, अर्थनाश और मृत्यु भी आजावे, उसमें कौन सी विशेषता है।

क्योंकि इन्द्रियों से विवेक-हीन हुआ मनुष्य आधे क्षण में जाति, कुल, विनय, श्रुत, शील, चरण, सम्यक्त्व, धन तथा शरीर आदि हार जाता है।

और भी कहा है कि—इस भूमि पर काल रूपी बाजी मंडी हुई है, उसमें पक्ष रूपी खाने हैं, और रात्रि दिवस रूप पासे फेंके जाते हैं, उसमें कोई कोई ही सच्चे पासे डालकर मोक्ष को जीतता है, शेष सब तो उलटे पासे डालकर हारते ही रहते हैं।

तूं विजितेंद्रिय पुरुषों में चूड़ामणि समान है। क्योंकि तूं उस समय रत्नावली के वचनों से मोहित नहीं हुआ, अतएव तुझे वारंवार नमस्कार हो। वीर पुरुषों का पट्टबंध तुझे ही बांधना चाहिये, कि-जिसने तरुणावस्था में जगत के साथ लड़ने वाली इन्द्रियों को झपाटे से जीता है।

इस प्रकार कुमार की प्रशंसा करके वह उसे कहने लगा कि—हे वत्स ! मेरा यह राज्य तूं ग्रहण कर, और मैं तो कठिन श्रमणत्व का पालन करूंगा।

यह सुन अंजली जोड़कर कुमार कहने लगा कि-हे तात ! ऐसे संसार में मुझे भी यही करना चाहिये, कारण कि यहां यही दृष्टान्त उपस्थित है। तब अमिततेज राजा ने अपने भानजे को राज्य सौंप भव से विरक्त हो सुगुरु से दीक्षा ग्रहण की।

अब कुमार वहां से लौटकर विमलशैल के शिखर पर आया वहां उसको निर्मल शीलवाली शीलवती देखने में नहीं आई।

मूल का अर्थ—धन सकल अनर्थ का निमित्त और आयास तथा क्लेश का कारण होने से असार है। यह जान कर धीमान् पुरुष उसमें जरा भी लुब्ध नहीं होते।

टीका का अर्थ—यहां मूल बात यह है कि—धन को असार जानकर उसमें लुभावे नहीं। धन कैसा है ? सो कहते हैं कि सकल अनर्थों का निमित्त याने समस्त दुःखों का निबंधन है। क्योंकि कहा है कि-पैसा पैदा करने में दुःख है। पैदा किये हुए को रखने में भी दुःख है। आते दुःख है और जाते भी दुःख है। अतः कष्ट के घर पैसे को धिक्कार है।

तथा आयास याने चित्त का खेद, जैसे कि—क्या मुझे राजा रोकेगा ? क्या मेरे धन को अग्नि जला देगी ? क्या ये समर्थ गोत्रीजन मेरे धन में से भाग पड़ावेंगे ? क्या चोर लूट लेंगे ? और जमीन में गाड़ा हुआ क्या कोई निकाल ले जावेगा। इस प्रकार धनवाला मनुष्य रात्रि दिवस चिन्ता करता हुआ दुःखी रहता है।

तथा क्लेश अर्थात् शरीर का परिश्रम—इन दोनों का धन कारण है, जैसे कि—पैसे के लिये कितने ही मनुष्य मगरों के समूह से भरे हुए समुद्र को तैर करके देशान्तर को जाते हैं। उछलते शस्त्रों के अभिघात से उड़ती हुई आग की चिनगारियों वाले युद्ध में प्रवेश करते हैं। शीतोष्ण पानी और वायु से भीगे हुए शरीर द्वारा खेती करते हैं। अनेक प्रकार का शिल्प करते हैं और नाटक आदि करते हैं।

तथा धन असार है अर्थात् उसमें से कोई दृढ़ फल प्राप्त नहीं होता। कहावत है कि—धन व्याधियों को रोक नहीं सकता।

औषधियों से निशल्य करके जख्म भरकर सचेत किया तब वह बोला कि-वैताढ्य-पर्वत के शिवमंदिर नगर में महेन्द्रविक्रम राजा का मैं अमितगति नामक पुत्र हूँ। मैं विद्याधर होने से धूम्रशिख नामक मित्र के साथ स्वेच्छा से खेलता हुआ, हरिमंत-पर्वत पर आया। वहां मेरे मामा हिरण्यसोम की सुकुमालिका नामक पुत्री को देखकर मैं कामातुर हो मेरे घर आया। इस वात को मेरे मित्र के द्वारा मेरे पिता को खबर पड़ने पर उन्होंने उस कन्या से मेरा विवाह किया। अव धूम्रशिख भी मुझे उसका अभिलाषी जान पड़ा। पश्चात् मैं सुकुमालिका तथा उक्त मित्र के साथ यहां आया। अव उसने यहां मुझे प्रमत्त देखकर इस झाड़ के साथ बांध दिया, तथा मेरी स्त्री को हरण करके वह चला गया।

तूं ने मुझे छुड़ाया इसलिये तेरे ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता। यह कह कर वह विद्याधर चला गया। तव श्रेष्ठि-पुत्र भी अपने घर आया। अव उसके पिता ने उसका स्वार्थी मामा की मित्रवती नामक कन्या से विवाह किया। तो भी वह रागरहितपन से रहता था तव पिता ने उसे दुर्ललित मंडली में भर्ती किया। वह वसंतसेना नामक वेश्या के घर रहकर उसके साथ आसक्त हो गया। वहां उसने बारह वर्ष में सोलह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ उड़ा दी। तव वसंतसेना की ऊपरी अक्का (नायिका) ने उसे निर्धन हुआ देख घर से निकाल दिया। तव वह अपने घर आया तो उसे पिता की मृत्यु की खबर हुई। जिससे वह चित्त में बहुत दुःखी हुआ।

पश्चात् स्त्री के आभूषण बेचकर अपने मामा के साथ उशीर-वर्तन नगर में व्यापार के निमित्त गया और वहां उसने खूब रूई

दिया, तब लिंगी ने उसे कुए में गिरा दिया, वह जाकर नीचे के तल में गिरा। तब उक्त वणिक ने उसे कहा कि–गोह की पूंछ पकड़ कर तूं ऊपर जा। जिससे वह वैसा ही करके नवकार मंत्र स्मरण करता हुआ ऊपर आया।

अब वह ज्योंही पर्वत की कन्दरा में से बाहर निकला, त्योंही एक पाड़ा उसके सन्मुख दौड़ा, जिससे वह शिला पर चढ़ गया। इतने में वहां एक अजगर निकला। वह पाड़े के साथ लड़ने लगा। इतने में मौका देखकर चारुदत्त वहां से भाग निकला। अब उसे एक समय रुद्रदत्त नामक मामा का पुत्र मिला। वे दोनों जने अलक्तक आदि माल लेकर, सुवर्ण भूमि की ओर चले और वेगवती नदी उतरकर पर्वत की शिखर पर पहुँचे। वहां से चित्रवन में आये। वहां उन्होंने दो बकरे खरीदे व उन पर चढ़कर उन्होंने बहुतसा मार्ग व्यतीत किया।

इतने में रुद्रदत्त ने कहा कि–यहां से आगे की भूमि ठीक नहीं है। अतः इन बकरों को मार कर उनका चमड़ा निकाल-कर उसमें घुस जाना चाहिये। ताकि मांस की भ्रांति से अपने को भारंड पक्षी उठा ले जावेंगे। जिससे हम सुखपूर्वक सुवर्ण-भूमि में पहुंच जावेंगे। तब चारुदत्त उनको कहने लगा कि–जिन्होंने हमको विषमभूमि से पार किया, वे बकरे तो अपने हितकारक होने से सहोदर भाई के समान हैं, उन्हें कैसे मारें ?

रुद्रदत्त बोला कि–तूं कोई इनका मालिक नहीं है, जिससे उसने पहिले एक को मारा, और फिर दूसरे को मारने लगा, तब वह बकरा चंचल नेत्रों से चारुदत्त की ओर देखने लगा। तब चारुदत्त उसे कहने लगा कि–तूं बचाया नहीं जा सकता है

तब कायोत्सर्ग पार, उसको धर्मलाभ दे, मुनि कहने लगे कि—तू भूचर होकर अगोचर पर्वत पर कैसे आ पहुँचा है? पुनः मुनि बोले कि—मैं अमितगति नामक विद्याधर हूँ। जिसको कि—तू ने उस समय छुड़ाया था। मैं वहां से छूट कर अष्टापद पर्वत के समीप आया, तो मुझे देख कर वह दुश्मन भाग गया। तब मैं अपनी स्त्री को लेकर शिवमंदिर नगर में आया। वहाँ राज्य देकर मेरे पिता ने दीक्षा ली। पश्चात मेरी स्त्री मनोरमा की कुक्षि से सिंहयश और वाराहग्रीव नामक मेरे ही समान बल-विक्रम वाले दो पुत्र हुए। वैसे ही विजयसेना स्त्री की कूख से गंधर्वसेना नामक पुत्री हुई। तदनन्तर राज्य तथा यौवराज्य पुत्रों को सौंप कर मैं प्रव्रजित हुआ हूँ। यह इस लवणसमुद्र के अन्दर स्थित कुंभकंठ द्वीप में कर्कोटक नामक पर्वत है। जिस पर रहकर मैं तप करता हूं। अब तू अपना वृतान्त कह।

तब चारुदत्त ने भी मुनि को अपना संपूर्णवृतान्त कह सुनाया। इतने में मुनि के दो पुत्र वहाँ आये और उन्होंने मुनि को नमन किया। तब वह महामुनि उनको कहने लगे कि—

हे पुत्रों ! यह चारुदत्त है । इतने में वहां एक महा ऋद्धिवान देवता आया । उसने प्रथम चारुदत्त को प्रणाम किया व पश्चात् मुनि को प्रणाम किया । तब विद्याधरों के इसका कारण पूछने पर उसने कहा कि —

काशी में सुलसा और सुभद्रा नाम की दो बहिनें थी, वे प्रव्राजिकाएं होकर वेदाङ्ग की पारगामिनी हो गई थीं । उन्होंने कई वादिओं को जीता था । अब याज्ञवल्क्य नामक परिव्राजक ने सुलसा को जीतकर अपनी दासी बनाई । उसके साथ विशेष संसर्ग रहने से उसको गर्भ रह कर पुत्र उत्पन्न हुआ । तब लोक-निंदा से डर कर वे उस बालक को पीपल के नीचे रख कर भाग गये । पश्चात् सुभद्रा ने उस बालक के मुंह में पीप पड़ी हुई देखी । उसने उसका नाम पिप्पलाद रख कर उसको पाला । वह विद्या सीख कर पितृमेध, मातृमेध आदि यज्ञ करके उनको मारने लगा । मैं उसका वर्द्दलि नामक शिष्य था । सो यज्ञों में बहुत पशुवध आदि करके मर कर नरक को गया । वहां से पांच बार पशु हुआ और पांचों बार मुझे ब्राह्मणों ने यज्ञ में मारा । छठे भव में इस चारुदत्त ने मुझे नवकार दिया, जिससे सौधर्म-देवलोक में मैं उत्पन्न हुआ । इसीसे मैंने पहिले इसको प्रणाम किया है ।

इस प्रकार चारुदत्त का वृत्तान्त सुनकर हे शिष्टजनो! तुम सदा संतोष की पुष्टि करो, परन्तु अनर्थ और क्लेश युक्त धन में, धर्म में क्षोभ कराने वाले लोभ को मत धारण करो।

इस प्रकार चारुदत्त का दृष्टांत पूर्ण हुआ।

यह सत्रह भेदों में का तीसरा भेद कहा। अब संसाररूप चौथे भेद का वर्णन करते हैं।

दुहरूवं दुक्खफलं दुहाणुबंधि विडंबणारूवं।
संसारमसारं जा–णिऊण न रइं तहिं कुणइ ॥ ६३ ॥

मूल का अर्थ—संसार को दुःखरूप, दुःखफल, दुखानुबंधि, विटंबनारूप और असार जानकर उसमें रति न करे।

टीका का अर्थ—यहां संसार में रति न करे, यह मुख्य बात है। संसार कैसा है सो कहते हैं—वह दुःखरूप अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से भरा हुआ होने से दुःखमय है, तथा दुःखफल याने जन्मान्तर में नरकादि दुःख देने वाला है, तथा बारंबार दुःख के संधान होने से दुखानुबंधि

है तथा विडंबना याने पीड़ा के समान इसमें जीवों के सुर, नर, नरक, तिर्यंच, सुभग, दुर्भग आदि विचित्र रूप होते हैं। इस प्रकार चतुर्गति रूप संसार में सुख सार न होने से असार है। अतएव उसमें श्रीदत्त के समान रति न करे, सो भावश्रावक है।

श्रीदत्त का दृष्टान्त इस प्रकार है।:—

वर्षाकाल जैसे बहुशस्य (बहुत घास चारे से युक्त) होता है, वैसे ही बहुशस्य (बहुत प्रशंसनीय) कुल्लागसंनिवेश में जिन-धर्म परायण श्रीदत्त नामक श्रेष्ठि कुमार था।

उसकी स्त्री एक समय एकाएक मर गई। तब वह संसार से विरक्त होकर इस भांति सोचने लगा।

नरक के जीव परमाधार्मिकों की हुई, परस्पर उदीर कर की हुई, और स्वाभाविक वेदना से पीड़ित हैं, अतः नरक में जीवों को निमेष मात्र भी सुख नहीं।

तिर्यंच, छेदन, भेदन, बंधन और अतिभारवहन आदि दुःखों से सदैव संतप्त रहते हैं, अतः उनको क्या सुख मिलता है?

मनुष्य का जीवन टूटे हुए इन्द्रधनुष्य के समान चंचल है, कुटुम्ब का संयोग भारी लहर के समान क्षणभंगुर है। यौवन ताप से तपे हुए पक्षियों के बच्चों के गले के समान चंचल है, और लक्ष्मी सदैव बिजली की झपक के समान है। इस भांति इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, रोग और शोक आदि से नित्य दुःखी मनुष्यों को लेशमात्र भी सुख नहीं होता।

भारी अमर्ष, ईर्ष्या, विषाद और रोष आदि से मलीन चित्त देवताओं में भी अति विस्तृत दुःखसंभार उछलता है। इसलिये

सकल सुख के हेतु और दुःखसागर के सेतु समान जिन-धर्म से रहित जीवों को चारों गतियों में कहीं सुख नहीं । यह विचार करके श्रीदत्त दीक्षा ले, अनुक्रम से गीतार्थ होकर, एकलविहारी की प्रतिमा पालने लगा । वह एक समय किसी ग्राम के बाहिर रात्रि को स्मशान में स्थिर आंखों से वीरासन द्वारा शुभ-ध्यान में खड़ा रहा ।

इतने में इन्द्र ने प्रशंसा करी कि—जैसे मेरु-पर्वत चाहे जैसे कठिन पवन से हिलता नहीं, वैसे ही यह श्रीदत्तमुनि देवताओं से भी अपने ध्यान से डिगाये नहीं जा सकते । इस पर अश्रद्धा करके एक देवता वहां आया । वह राक्षस का रूप करके उक्त मुनि को सख्त उपसर्ग करने लगा ।

सर्प होकर चन्दन वृक्ष के समान उनके सर्वाङ्ग में लिपट कर काटने लगा, वैसे ही हाथी का रूप धर कर सूंड़ से उनको उछालने लगा । तथा उसने उनके चारों ओर प्रचंड ज्वालायुक्त अग्नि सुलगाई तथा प्रचंड वायु द्वारा आक के तूल समान उनको लुढ़काया । पश्चात् ऊंट के गले बराबर धूल द्वारा उनको चारों ओर से डाट दिया, फिर उन पर विषम विष वाले बिच्छू डाले । अब वह देवता अवधिज्ञान से मुनि का अभिप्राय देखने लगा, तो वे महान साहसी साधु मन में इस भांति चिन्तवन कर रहे थे ।

सहन किया है उपसर्ग जिसने ऐसे हे जीव ! यह तेरे सत्व की कसौटी है, क्योंकि स्वस्थ अवस्था में तो प्रायः सभी कोई व्रतपालन करता है, किन्तु उपसर्ग में पालन करता है वही वास्तविक साहसी है ।

हे जीव ! तूं ने पराधीन रहकर इस संसार रूप गहन वन में इससे अनंतगुणी वेदना सही है, परन्तु उससे कुछ भी लाभ

नहीं हुआ। अतः हे जीव ! धैर्यपूर्वक क्षणभर यह वेदना सम्यक् रीति से सहन कर, कि-जिससे शीघ्र ही संसार समुद्र पार करके मुक्ति प्राप्त होगी।

हे जीव ! तूं सकल जीवों को खमा, और तूं भी उनको क्षमा कर, सब पर मित्र भाव कर, और इस देव पर तो विशेष मित्र भाव कर। क्योंकि हे जीव ! जो भव रूप बंदीगृह से तुझे निकाल कर आप गिरता है, वह देव तेरा परम मित्र व परम बंधु है। परन्तु यह उपसर्ग मुझे जैसा संसार का नाशक होने से हर्षकारक है, वैसा इसको अनन्तभव का कारण हो जायगा। यह बात मेरे मन में खटकती है।

इस भांति शुभ भावना रूप चंदन से सुवासित मुनि का मन जान कर देवता मिथ्यात्व त्याग, अपना रूप प्रकट कर, मुनि को प्रणाम करके इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगा।

दृढ़ धर्म-धुरीण, भवरूप वन से पृथक हुए, धैर्य से मेरु को जीतने वाले, भयरूप सर्प को भगाने में गरुड़ समान, धीरजवान् मुनि ! आप जयवान रहो। कमल युक्त तालाब का जैसे सारस अनुसरण करते हैं, वैसे ही आपके चरण कमलों का मैं अनुसरण करता हूँ। आपके गुणों को बंदी के समान स्वयं इन्द्र प्रशंसा करता है।

इस प्रकार मुनींद्र की स्तुति कर देवता स्वर्ग को गया, अथवा गुणीजनों की स्तुति से जीव स्वर्ग को जावें इसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्रीदत्त मुनीश्वर भी चिरकाल चारित्र पालन कर, अनशन कर, मरकर के महाशुक्र में देवता हुए।

वहां से च्यवन कर साकेत नगर में श्रीतिलक नामक नगर-सेठ की भार्या यशोमती के गर्भ में पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। वह

आठवें मास में जिन-धर्म सुनने को गई, वहां गर्भ के दुःख और देवता के सुख सुनकर उसको जाति स्मरण हुआ। तब संसार से विरक्त हो उन्होंने अभिग्रह लिया कि समय आने पर मैं गृहवास में न रहकर दीक्षा ही ग्रहण करूंगा। जन्म लेने पर उनका नाम पद्म रखा गया। वे यौवनावस्था को प्राप्त होने पर चतुर्ज्ञानी गुरु से दीक्षा लेकर मोक्ष को गये।

इस प्रकार खिले हुए फूलवाली मल्लिका के तख्त समान विशद (स्वच्छ) श्रीदत्त का चरित्र भलीभांति सुनकर अनेक दुःखों से भरे हुए इस भव में भव्यजनों ने नित्य विरक्त रहना चाहिये।

इस प्रकार श्रीदत्त का दृष्टान्त पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में चौथा भेद कहा। अब विषय रूप पांचवें भेद का वर्णन करते हैं।

खणमित्तसुहे विसए विसोवमाणे सयावि मन्नंतो।
तेसु न करेइ गिद्धिं भवभीरू मुणियतत्तत्थो॥ ६४॥

मूल का अर्थ—क्षणमात्र सुखदाई विषयों को सदैव विष-समान मान कर भवभीरु और तत्त्वार्थ को समझने वाले पुरुष विषयों में गृद्धि न करें।

टीका का अर्थ—जिनसे क्षणमात्र सुख होता है, वैसे शब्दादिक विषयों को कालकूट विष समान परिणाम में सदैव भयंकर समझता हुआ अर्थात् विष खाने में तो मीठा लगता है परन्तु परिणाम में प्राण नाशक होता है, वैसे ही ये विषय भी अन्त में विरस हैं, ऐसा जानता हुआ जिनपालित के समान संसार से डर कर भाव श्रावक उनमें अत्यासक्ति न करें।

गृद्धि कैसे न करे, सो कहते हैं। कारण कि–वह तत्त्वार्थ को जानता है, अर्थात् जिनवचन सुनने से विषयों की असारता समझा हुआ है। देखो ! जिनवचन इस प्रकार हैः—

ये भोगविलास भोगते मीठे हैं, किन्तु किंपाक के समान विपाक में विरस हैं। दाद व खुजली के समान दुःखजनक होकर सुख में बुद्धि उपजाते हैं। मध्याह्न के समय दीखती हुइ मृग-तृष्णा के समान सचमुच धोखा देने वाले हैं, और भोगने पर कुयोनि में जन्म देने वाले होने से महावैरी समान हैं। इत्यादि जिनोपदेश है।

जिनपालित की कथा इस प्रकार है।

जिस विशाल और आबाद नगरी में आकाश–पाताल को जीतने वाले उत्तम पुरुष हुए, वह चम्पा नामक यहां एक नगरी थी। वहां सज्जन रूप शुकों को आश्रय देने के लिये माकंद समान माकंदी नामक सार्थवाह था। उसके जिनपालित और जिन-रक्षित नामक दो लड़के थे।

वे क्षेम–कुशल पूर्वक ग्यारह वार समुद्र पार हो आये। लोभवश वे पुनः बारहवीं बार जहाज पर चढ़े। वे समुद्र में थोड़े ही आगे गये होंगे कि सहसा उन अभागों का माल से भरा हुआ जहाज टूट गया। तब वे जैसे वैसे पटियों के सहारे समुद्र पार करके रत्नद्वीप में पहुँचे। वहां रसयुक्त फल खा कर खिन्न मन से रहने लगे।

तब रुद्र और क्षुद्र प्रकृतिवाली रत्नद्वीप की देवी उन दोनों को देख कर काली खटखटाती तलवार हाथ में ले वहां आई। और कहने लगी कि–इस महल में रह कर मेरे साथ भोगविलास

अगर यहां अच्छा न लगे तो पूर्व, पश्चिम और उत्तर के प्रत्येक उद्यान में वर्षा आदि दो दो ऋतु व्यतीत करना । किन्तु तुमने दक्षिण ओर के उद्यान में कभी मत जाना, क्योंकि वहां मसी के समान काला सर्प रहता है । उन्होंने यह बात मान ली । यह कह कर वह चली गई । पश्चात् वे तीन उद्यानों में फिरते हुए, मनाई होने पर भी कौतुक वश दक्षिण के उद्यान में गये ।

वे ज्योंही उसके अन्दर घुसे कि उनको दुर्गन्ध आने लगी और अन्दर कोई करुण स्वर से रोता सुनाई दिया । जिससे वे शब्द का अनुसरण करके आगे गये । वहां उन्होंने प्रेतवन के बीच में शूली पर चढ़ाया हुआ एक आक्रंद विलाप करता हुआ मनुष्य तथा बहुत सी हड्डियों का ढेर देखा । तब वे डरते हुए शूली पर चढ़े हुए मनुष्य के समीप जाकर पूछने लगे कि–हे भद्र ! तूं कौन है ? और तेरी यह दशा किसने की है ?

वह बोला कि– मैं काकंदीपुरी का वणिक हूँ । मेरा जहाज टूट जाने से मैं यहां आया, तो देवी ने मुझे पकड़ा और मेरे

साथ उसने भोगविलास किया। पश्चात् एक छोटे से अपराध को बड़ा मान कर मुझे शूली पर चढ़ाया है और इसी प्रकार अन्य मनुष्यों की भी दशा हुई है।

तब प्रचंड पवन से कांपते वृक्ष के समान भय से कांपते हुए वे बोले कि–हे भद्र! इसी भांति उसने हमको भी पकड़ा है। इसलिये हमारे क्या हाल होंगे? तब वह बोला कि–यह कौन जाने, किन्तु मैं सोचता हूँ कि शीघ्र ही तुम भी इसी दशा को पहुँचोगे। तब माकंदी के उन दोनों पुत्रों ने दीनवचन से कहा कि–हे भद्र! जो तू कुछ उपाय जानता हो तो कृपा कर बता। तब शूली पर चढ़ छिदा हुआ होने पर भी करुणावान् वह मनुष्य बोला कि–हे भद्रों! वास्तव में एक उपाय है। वह यह कि–यहां पूर्व ओर के उद्यान में घोड़े का रूप धरने वाला सेलक नामक यक्ष रहता है। वह उसे नमने वालों को सुख प्राप्त कराता है।

वह सदैव अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पौर्णिमा को उच्च स्वर से गर्जता है कि–"किसको तारूं? किसको पालूं?" उस समय तुम कहना कि–हे नाथ! हम अनाथों पर कृपा करके हमको तारो और बचाओ। तो वह तुम्हारी रक्षा करेगा। मैं विषयों के विष से मुग्ध होकर महामूर्ख हो गया। जिससे यह उपाय नहीं कर सका। परन्तु तुम इस विषय में लेश मात्र भी प्रमाद मत करो। यह वचन स्वीकार कर वे उस उद्यान में आकर, स्नान कर, दोनों जने कमल लेकर यक्ष के मंदिर में आये। व नमने वाले की रक्षा करने वाले, और उपद्रव का नाश करने वाले उक्त चालाक यक्ष की पूजा करके, भक्ति पूर्वक भूमि में मस्तक लगा कर उसको नमन करने लगे।

इस प्रकार करते ठीक समय पर यक्ष उनको कहने लगा कि–"किसको तारूं? किसको पालूं?" तब वे बोले–हे स्वामिन्!

आप सबमे अधिक करुणावान और अशरण शरण हो, तो हम शरणागत हैं, कृपा कर हम को तारो व पालो।

यक्ष बोला! "तथास्तु" किन्तु तुमको मेरी पीठ पर चढ़े हुए देख कर समुद्र में वह क्षुद्र व्यंतरी शीघ्र आकर नरम गरम और शृंगारपूर्ण वचनों से तुम्हारा मन हरेगी। उस समय जो तुम उस पर अनुराग लाकर नजर से भी उसको देखोगे तो मैं अपनी पीठ से गिरा कर तुम को दूर फैंक दूंगा। और जो उसके साथ नहीं लुभाओगे और विषयसुख की अपेक्षा नहीं रखोगे तो मैं तुम्हें अतुल लक्ष्मी के भाजन करूंगा।

तब उन्होंने उसका वचन, आज्ञा और विनय से तहत्ति करके कबूल किया। तब सेलक यक्ष घोड़े के रूप में होकर, उन दोनों को पीठ पर चढ़ा कर चला। इतने में वह व्यंतरी अपने स्थान पर आकर देखने लगी, तो वे उसे न दीखे। तब वह अवधि से देखने लगी, तो वे उसे लवण-समुद्र में दीखे। जिससे कोप वश जलती हुई आकाश मार्ग से उनके पास आई।

वह बोली कि–अरे दुष्टों! मुझे छोड़ कर सेलक के साथ कैसे जाते हो? अरे अनार्यों! अभी तक तुमने मेरा स्वरूप नहीं जाना? जो तुम सेलक को छोड़ कर पुनः शीघ्र ही मेरी शरण में नहीं आओगे तो इस नंगी तलवार से तुम्हारे सिर काट लूंगी। इस प्रकार कठोर वाणी से उनको क्षुभित करने में वह असमर्थ हो गई, तब शृंगारपूर्ण वाणी से बोलने लगी।

अरे! मैं तुम्हारी एक मात्र हितकर्ता, भक्त, सरल और स्नेह-वाली थी। इसलिये हे नाथों! तुमने मुझे अनाथ करके क्यों छोड़ दिया? इसलिये कृपा कर इस विरहातुर को आपके संगम-रूप जल से पूर्ण शान्त करो।

यह कहने पर भी उन्होंने जब उसे नजर से भी न देखा, तब उसने अवधि से जाना कि जिनरक्षित निश्चय डिग जावेगा। जिससे वह उसे कहने लगा कि–हे जिनरक्षित ! तूं हमेशा मेरे हृदय का हार था। तेरे साथ में सच्चे भाव से बोलती खेलती थी। यह जिनपालित तो मुझे सदैव अविदग्ध वणिक के समान जड़ लगता था। वह मुझे भले ही उत्तर न दे, परन्तु तुझे तो वैसा न करना चाहिये। तेरे विरह में मेरा हृदय टुकड़े टुकड़े होकर शीघ्र ही टूट जावेगा। अतः हे जिनरक्षित ! मेरे निकलते हुए प्राण को रख।

इस प्रकार रुमझुम करती घुघरियों के शब्द से कानों को प्रसन्न करती हुई, वह ऐसा बोलने के साथ ही उसके सिर पर सुवर्ण के पुष्प बरसाने लगी। अब महान कपटी व्यंतरी का वह रूप देख कर, वे वचन तथा गहनों की रुमझुम सुन कर पूर्व की क्रीड़ाओं का स्मरण कर, तथा सुगंधित गंध सूंघ कर जिनरक्षित शूली पर चढ़े हुए मनुष्य की कही हुई सब बातें भूल गया।

स्वयं आंखों से देखे हुए, उसके दुःखों की उस अपूर्णमति ने गणना नहीं की। तथा सेलक यक्ष के सुभाषण की भी अवधीरणा की। पश्चात् कंदर्प रूप भील के दीर्घ भाले से विंधा हुआ वह दुर्भागा जिनरक्षित उस व्यंतरी की ओर देखने लगा। तब उसे विषय में गृद्धचित्त जान कर सेलक ने उसे अपनी पीठ पर से नीचे गिरा दिया। तब उस गिरते हुए दीन का पग पकड़कर "अरे दास ! अब मरा ही है।" यह बोलती हुई उस व्यंतरी ने क्रोध से जलते हुए उसे ऊँचा आकाश में फेंका।

वह ज्योंही वहां से गिरा कि उस पापिणी ने ऊंची तलवार से उसके खंड खंड करके दशों दिशाओं में भतबलि की। —

वह हर्षित हो बहुत किलकिल करके जिनपालित को नाना प्रकार से उपसर्ग करने लगी, किन्तु उसको क्षुभित न कर सकी, तब अपने स्थान को चली गई। बाद थोड़े समय ही में उस यक्ष ने जिनपालित को चंपापुरी में पहुँचाया। वह मां बाप को मिला और उसने सब वृतान्त कह सुनाया। तब वे अश्रुपूर्ण-नयन होकर जिनरक्षित का मृत कार्य करने लगे। तदनन्तर एक वक्त जिनपालित ने सुगुरु से दीक्षा ली।

वह एकादश अंग पढ़ कर चिरकाल प्रव्रज्या का पालन कर दो सागरोपम के आयुष्य से प्रथम देवलोक में देवता हुआ। वहां से च्यवन कर विदेह में उत्पन्न हो, विषयों का त्याग कर, व्रत लेकर वह मोक्ष को जावेगा। अब इस जगह इस बात का उपनय है।

द्वीप की देवी के समान यहां पापमय विषयाविरति जानो। लाभार्थी वणिकों के समान सुखार्थी प्राणी जानो। उन्होंने भयभीत होकर वधस्थान में जैसे पुरुष देखा, वैसे यहां सैकड़ों भव-दुःखों से भय पाये हुए प्राणी महा परिश्रम से धर्मकथिक पुरुष को प्राप्त कर सकते हैं। उस शूली पर चढ़े हुए प्राणी ने जैसे देवी को दारुण दुःखों की कारण और सेलक यक्ष से उन दुःखों का निस्तार बताया। वैसे यहां विरतिस्वभाव वाला धर्मकथिक पुरुष भव्य जीवों को कहता है कि– विषयाविरति सैकड़ों दुःखों की हेतुभूत है और दुःखी जीवों को चारित्र सेलक की पीठ पर चढ़ने के समान है। संसार समुद्र के समान है और मुक्ति को जाना, सो अपने घर पहुँचने के समान है।

जैसे देवी के व्यामोह से जिनरक्षित सेलक की पीठ से गिर कर मरा, वैसे ही विषय के मोह से जीव चारित्रभ्रष्ट हो कर

संसार समुद्र में पड़ता है। जैसे देवी से क्षुभित न होकर जिन-पालित घर को पहुँचा, और उत्तम सुख पाया। उसी भांति विषयों से क्षुभित न होने वाला शुद्धजीव मोक्ष पाता है।

इस प्रकार विषयों में गृद्धि छोड़कर जिनपालित सुखों का भाजन हुआ, अतः हे लोगों! तुम कभी भी विषयों में तीव्र प्रति-बंध मत करना।

इस प्रकार जिनपालित की कथा समाप्त हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में विषयरूप पांचवां भेद कहा। अब आरंभरूप छठे भेद का वर्णन करते हैं।

वज्जइ तिव्वारंभं, कुणइ अकामो अनिव्वहंतो उ।
थुणइ निरारंभजणं, दयालुओ सव्वजीवेसु ॥ ६५ ॥

मूल का अर्थ—तीव्रारंभ का वर्जन करे। निर्वाह न होने पर कदाचित कुछ करना पड़े तो अनिच्छा से करे। तथापि निरा-रंभी जनों की प्रशंसा करे और सर्व जीवों में दयालु रहे।

टीका का अर्थ—तीव्रारंभ याने स्थावर जंगम जीवों को पीड़ा के कारण व्यवसाय का वर्जन करे, अर्थात् आरंभ न करे। जो उनके बिना न चलने पर खरकर्मादिक करना पड़े तो निष्काम-पन से याने मंद इच्छा से करे। स्वयंभूदत्त के समान। 'तु' शब्द विशेषणार्थ है। क्या विशेषता बतलाता है, सो कहते हैं— अनिर्वाह में गुरुलाघव विचार कर चले, निर्ध्वंसपन से नहीं।

निरारंभ जन याने साधुजन की प्रशंसा करे— सो इस प्रकार कि—धन्य हैं वे महामुनि कि जो मन से भी परपीड़ा नहीं करते

और आरंभ तथा पाप से दूर रहकर त्रिकोटि परिशुद्ध आहार खाते हैं। तथा समस्त प्राणियों में दयालु अर्थात् कृपावान होकर, वे ऐसा विचार करते हैं कि अपने एक जीव के लिये करोड़ों जीवों को जो दुःख देते हैं, उनका जीवन क्या शाश्वत रहने वाला है ?

स्वयंभूदत्त की कथा इस प्रकार है।

स्नेहपूर्ण दंडधारी कांति वाले जीव के समान समुद्र के पानी रूप स्नेह से भरे हुए, मेरु पर्वतरूप दंडधारी, और ज्योतिरूप कान्तिवाले जम्बूद्वीप में कंचनपुर नामक नगर था। वहां जिनमत से वासित स्वयंभूदत्त नामक सेठ था। वह प्रायः महा आरंभ के कामों से दूर रहता था। उसे गाढ़ अंतराय के जोर से निरवद्य अथवा अल्प सावद्य व्यवसाय से आजीविका योग्य भी नहीं मिलता था। तब निर्वाह न होने पर उसने कृषि का व्यवसाय शुरू किया, किन्तु उसके वक्र ग्रह होने से वहां दुष्काल पड़ा।

दुष्काल के कारण बहुत से सेठ साहूकार और लोगों पर लाखों दुःख आ पड़े ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष फैला। तब स्वयंभूदत्त ने वहां अपना निर्वाह होना कठिन जानकर इच्छा न होते भी बैलों के द्वारा भाड़ा भत्ता आदि करके जीविका का उपाय प्रारंभ किया। दुर्भिक्ष के कारण उससे भी उसका निर्वाह नहीं चला। तब वह किसी बड़े सार्थ के साथ देशान्तर जाने को निकला।

बहुतसा मार्ग पार करने पर उक्त सार्थ ने एक वन में पड़ाव डाला। इतने में वहां जोर जोर से चिल्लाते हुए भीलों ने डाका डाला। तब सार्थ के सुभट भी भाले, पत्थर, बावल आदि हथियार हाथ में लेकर उनके साथ युद्ध करने को तैयार हुए। वहां कई

प्रचंड सुभट घायल हुए, लड़ाई की घबराहट से कई लोग भाग खड़े हुए और सार्थपति आंखें फाड़ फाड़ कर देखता रहा, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ।

उस प्रबल बली भीलों के समूह ने क्षण भर में कलिकाल जैसे धर्म को पकड़ता है वैसे ही सारे सार्थ को पकड़ लिया। वह भील सेना सारभूत वस्तु तथा रूपवती स्त्रियों तथा मनुष्यों को पकड़ करके अपनी पल्ली की ओर जाने लगी। स्वयंभूदत्त भी लुट गया और भागने लगा तब उसे धनवान जान कर उन दुष्ट भीलों ने पकड़ा।

उन्होंने उसे बांध कर सख्त चाबुकों से मारा तथापि उसने कुछ भी देना स्वीकार नहीं किया। तब वे नित्य मानता पूरी होने पर जिसका तर्पण करते थे, उस चामुंडा के सन्मुख उसे उपहार के निमित्त ले आये। पश्चात् वे उसे कहने लगे कि—रे वणिक! जो तू जीना चाहता हो तो अभी भी हम को बहुतसा द्रव्य देने की स्वीकृति दे। क्यों अकाल में ही काल के मुख में पड़ता है?

वे भील इस प्रकार बोलते हुए स्वयंभूदत्त को खड्ग से मारने को तैयार हुए ही थे कि इतने में वहां सहसा भारी कोलाहल हुआ कि—अरे! इस रांक को छोड़ो, और इस शत्रुओं के समूह की ओर दौड़ो, जो कि अपने स्त्री, बाल, वृद्धों का नाशक है। अतः इसे जाने मत दो।

देखो! यह पल्ली तोड़ी जा रही है और ये सब घर जलाये जा रहे हैं। इस प्रकार का कोलाहल सुनकर, स्वयंभूदत्त को छोड़ कर चिरकाल के बैरी सुभट आ पड़े जानकर वे भील शीघ्र ही चामुंडा के भवन से पवन के झपाटे के समान बाहिर निकले।

और आरंभ तथा पाप से दूर रहकर त्रिकोटि परिशुद्ध आहार खाते हैं। तथा समस्त प्राणियों में दयालु अर्थात् कृपावान होकर, वे ऐसा विचार करते हैं कि अपने एक जीव के लिये करोड़ों जीवों को जो दुःख देते हैं, उनका जीवन क्या शाश्वत रहने वाला है ?

स्वयंभूदत्त की कथा इस प्रकार है।

स्नेहपूर्ण दंडधारी कांति वाले जीव के समान समुद्र के पानी रूप स्नेह से भरे हुए, मेरु पर्वतरूप दंडधारी, और ज्योतिरूप कान्तिवाले जम्बूद्वीप में कंचनपुर नामक नगर था। वहां जिनमत से वासित स्वयंभूदत्त नामक सेठ था। वह प्रायः महा आरंभ के कामों से दूर रहता था। उसे गाढ़ अंतराय के जोर से निरवद्य अथवा अल्प सावद्य व्यवसाय से आजीविका योग्य भी नहीं मिलता था। तब निर्वाह न होने पर उसने कृषि का व्यवसाय शुरू किया, किन्तु उसके वक्र ग्रह होने से वहां दुष्काल पड़ा।

दुष्काल के कारण बहुत से सेठ साहूकार और लोगों पर लाखों दुःख आ पड़े ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष फैला। तब स्वयंभूदत्त ने वहां अपना निर्वाह होना कठिन जानकर इच्छा न होते भी बैलों के द्वारा भाड़ा भत्ता आदि करके जीविका का उपाय प्रारंभ किया। दुर्भिक्ष के कारण उससे भी उसका निर्वाह नहीं चला। तब वह किसी बड़े सार्थ के साथ देशान्तर जाने को निकला।

बहुतसा मार्ग पार करने पर उक्त सार्थ ने एक वन में पड़ाव डाला। इतने में वहां जोर जोर से चिल्लाते हुए भीलों ने डाका डाला। तब सार्थ के सुभट भी भाले, पत्थर, चावल आदि हथियार हाथ में लेकर उनके साथ युद्ध करने को तैयार हुए। वहां कई

प्रचंड सुभट घायल हुए, लड़ाई की घबराहट से कई लोग भाग खड़े हुए और सार्थपति आंखें फाड़ फाड़ कर देखता रहा, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ।

उस प्रबल बली भीलों के समूह ने क्षण भर में कलिकाल जैसे धर्म को पकड़ता है वैसे ही सारे सार्थ को पकड़ लिया। वह भील सेना सारभूत वस्तु तथा रूपवती स्त्रियों तथा मनुष्यों को पकड़ करके अपनी पल्ली की ओर जाने लगी। स्वयंभूदत्त भी लुट गया और भागने लगा तब उसे धनवान जान कर उन दुष्ट भीलों ने पकड़ा।

उन्होंने उसे बांध कर सख्त चाबुकों से मारा तथापि उसने कुछ भी देना स्वीकार नहीं किया। तब वे नित्य मानता पूरी होने पर जिसका तर्पण करते थे, उस चामुंडा के सन्मुख उसे उपहार के निमित्त ले आये। पश्चात् वे उसे कहने लगे कि—रे वणिक! जो तूं जीना चाहता हो तो अभी भी हम को बहुतसा द्रव्य देने की स्वीकृति दे। क्यों अकाल में ही काल के मुख में पड़ता है?

वे भील इस प्रकार बोलते हुए स्वयंभूदत्त को खड्ग से मारने को तैयार हुए ही थे कि इतने में वहां सहसा भारी कोलाहल हुआ कि—अरे! इस रांक को छोड़ो, और इस शत्रुओं के समूह की ओर दौड़ो, जो कि अपने स्त्री, बाल, वृद्धों का नाशक है। अतः इसे जाने मत दो।

देखो! यह पल्ली तोड़ी जा रही है और ये सब घर जलाये जा रहे हैं। इस प्रकार का कोलाहल सुनकर, स्वयंभूदत्त को छोड़ कर चिरकाल के बैरी सुभट आ पड़े जानकर वे भील शीघ्र ही चामुंडा के भवन से पवन के झपाटे के समान बाहिर निकले।

तब स्वयंभूदत्त विचारने लगा कि—आज मेरा नया जन्म हुआ, और आज ही मैंने सर्व संपदा पाई। यह सोच कर वह झट वहां से रवाना हुआ।

वह भयंकर भीलों के भय से ध्रूजता हुआ पर्वत के दर्रे के बीच से बहुत से झाड़ और लताओं से छाये हुए आड़ रास्ते चला। वहां उस काले सर्प ने डसा जिससे उसे महा घोर वेदना होने लगी। तब वह विचार करने लगा कि—अब तो मेरा नाश ही होना जान पड़ता है। क्योंकि जैसे वैसे मैं भीलों से छूटा तो इस कृतान्त समान सर्प ने मुझे डसा अतः दैव अलंघनीय है।

हो। तब मुनि को निरीह जान कर गरुड़कुमार अपने स्थान को गया।

इधर स्वयंभूदत्त भी प्रसन्न होकर मुनि से इस प्रकार कहने लगा—हे भगवन्! भ्रमण करते हुए भयंकर प्राणियों से भरपूर वन में महान पुण्य ही से मुझे यहां आपका योग हुआ है। हे मुनीश्वर! जो आप महान् करुणावंत यहां न होते तो, मैं अति दुष्ट सर्प के विष से मर जाता। अतः विद्याधरों से नमित चरण हे मुनींद्रचंद्र! मेरे ऊपर कृपा करके मुझे आरंभ और दंभ से रहित प्रव्रज्या दीजिये।

तब गुरु ने उसे शास्त्रोक्त विधि से दीक्षा दी। बाद वह चिरकाल व्रत का पालन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ और अनुक्रम से मोक्ष को जावेगा।

इस प्रकार जीवों पर कृपालु और जिनमत में कुशल स्वयंभूदत्त का चरित्र जान कर हे श्रावक जनों! तुम निरारंभभाव में दृढ़ मन रखो और सदैव तीव्रारंभ का परिहार करो।

इस प्रकार स्वयंभूदत्त की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में आरंभ रूप छठा भेद कहा। अब गेहरूप सातवां भेद का वर्णन करते हैं।

गिहवासं पासंपिव मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तंमि।
चारित्तमोहणीज्जं निज्जिणिउं उज्जमं कुणइ ॥ ६६ ॥

मूल का अर्थ—गृहवास को पाश के समान मानता हुआ दुःखित होकर उसमें रहे और चारित्र मोहनीय कर्म जीतने का उद्यम करे।

टीका का अर्थ—गृहवास अर्थात् गृहस्थपन को पाश याने फंदे के समान मानता हुआ याने भावना करता हुआ, उसमें दुःखित होकर रहे। जैसे फंदे में पड़ा हुआ पक्षी उड़ सकता नहीं, जिससे उसमें बड़े कष्ट से रहता है। इसी भांति संसार-भीरु भावश्रावक भी माता पिता आदि के प्रतिबंध से दीक्षा नहीं ले सकने से शिवकुमार के समान दुःख से गृहवास में रहता है। इसी से वह चारित्रमोहनीय कर्म का निवारण करने के लिये तप संयम में प्रयत्न करता है।

शिवकुमार की कथा इस प्रकार है।

मेघ जैसे सुवन (श्रेष्ठ जल वाला) होता है, वैसे ही सुवन (श्रेष्ठ वन वाले) महाविदेह क्षेत्रांतर्गत पुष्कलावती विजय में बहुत से आनन्दी लोगों से युक्त वीतशोका नामक नगरी थी। वहां सत्य न्याय रूप भ्रमर के रहने के लिये पद्म समान पद्मरथ नामक राजा था। उसकी उत्तम शीलरूप हाथी की शाला के समान वनमाला नामक प्राणप्रिया थी। उनको अतिशय विशिष्ट चेष्टावाला, सदा धर्मिष्ट और शिरीष के फूल समान हाथ पांव वाला शिवकुमार नामक पुत्र था।

वहां कामसमृद्ध नामक सार्थवाह ने त्रिज्ञानी सागरचन्द्र मुनींद्र को मासक्षमण के पारणे पर आहार पानी वहोराया। तब उसके घर देवों ने अतुल धनवृष्टि की। यह वृतान्त सुन कर शिव-कुमार हृदय में हर्षित होता हुआ, उक्त मुनीश्वर के पास जाकर वन्दना करके उचित स्थान पर बैठा। तब सागरचन्द्र गुरु उसको इस प्रकार धर्म-कथा कहने लगे।

इस संसार में प्राणी सकल प्रवृत्तियां सुख के हेतु करते हैं, किन्तु सुख तो मोक्ष में ही है और मोक्ष पवित्र चारित्र ही से

मिल सकता है। और शुद्ध चारित्र प्रायः करके गृहवास में रहने वाले को संभव ही नहीं। अतः तुझे गृहवास का त्याग करके निर्मल चारित्र लेना चाहिये।

यह सुन शिवकुमार पूछने लगा कि-हे भगवन्! अपने बीच में क्या पूर्व भव का स्नेह होगा कि-जिससे आपको देखने से मुझे अधिकाधिक हर्ष बढ़ता है।

तब अवधिज्ञान से जानकर मुनींद्र बोले कि-पूर्वकाल में भरत-क्षेत्र के सुग्राम में एक राठौड़ की रेवती नामक स्त्री के गर्भ से जन्मे हुए भवदत्त और भवदेव नामक दो भाई थे। वे दीर्घकाल तक व्रत का पालन करके सौधर्म-देवलोक में उत्पन्न हुए। उनमें के भवदत्त का जीव मैं हूं और भवदेव का जीव तूं हुआ है। जिससे पूर्वभव के स्नेह से मेरे में तेरा हर्ष बढ़ता है।

तब गृहवास से विरक्त हो शिवकुमार बोला कि-हे मुनींद्र! माता पिता से पूछ कर मैं आपके पास दीक्षा ग्रहण करूंगा। यह कह गुरु को नमन करके वह घर जाकर माता पिता को पूछने लगा। तब वे उसके ऊपर गाढ़ प्रतिबंध से बंधे हुए मन वाले होने से इस प्रकार कहने लगे।

जो तूं हमारा भक्त हो और जो तूं हमको पूछ कर व्रत लेता हो तो सदैव हमारी जिह्वा तुझे दीक्षा लेने का निषेध ही करती रहे। इस भांति माता पिता के रोक कर रखने से शिवकुमार ने सर्व सावद्य का त्याग कर घर ही में रह कर भावचारित्र अंगीकार किया। उसने माता पिता को उद्वेग देने के लिये मौन धारण करके भोजन भी बन्द कर दिया। तब राजा ने दृढ़धर्म नामक श्रेष्ठिकुमार को बुला कर इस प्रकार कहा :—

हे पुत्र ! शिवकुमार के दीक्षा लेने को तैयार होने पर हमारे रोकने से उसने मौन धारण किया है और अब भोजन भी करना नहीं चाहता। इसलिये तूं किसी प्रकार इसको खिला । ऐसा करने से तूं ने हमको मानो प्राणदान दिया । ऐसा मन में सोचकर तुझे शिवकुमार के पास आने जाने की बिलकुल छुट्टी देते हैं, इसलिये तूं निःशंक हो कर वहां जा।

तब दृढ़कुमार राजा को प्रणाम करके बोला कि–हे स्वामिन्! जो उचित होगा, वही करूंगा। यह कह कर वह शिवकुमार के पास गया। निसीहि करके ईरियावही की और द्वादशवर्त्त वंदन कर प्रमार्जन करके 'अणुजाणह में' ऐसा बोलकर बैठ गया तब शिवकुमार ने विचार किया कि–यह श्रेष्ठिकुमार अगारी मेरे सन्मुख साधू को करने योग्य विनय करके खड़ा हुआ है । अतः इसको पूछूं तो सही कि–वह ऐसा क्यों करता है ? जिससे उसने कहा कि—हे श्रेष्ठिकुमार ! जो मैंने सागरदत्त गुरु के पास साधुओं को किया जाता हुआ विनय देखा, वही तूं ने मेरे सन्मुख किया। अतः बोल, क्या यह अनुचित नहीं ?

दृढ़धर्म बोला—हे कुमार ! अर्हंत के प्रवचन में विनय तो साधु और श्रावकों का समान ही कहा गया है। वैसे ही जिन-वचन सत्य है। ऐसी श्रद्धा भी समान ही है और व्रत तथा आगम में विशेषता है, वह यह कि–साधु महाव्रत धारी होते हैं तो श्रावकों को अणुव्रत होते हैं । साधु समस्त श्रुतसागर के पारंगामी होते हैं, तो श्रावक जीवाजीव तथा बंध मोक्ष के विधान के उपयुक्त आगम जानते हैं। उसी भांति बारह प्रकार के तप में थोड़ी विशेषता है।

अतः हे कुमार ! तूं समभाव वाला होने से अवश्य वन्दना करने योग्य है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि–तूं ने भोजन क्यों

त्यागा है ? कारण कि-देह पुद्‌गलमय है, वह आहार विना कायम नहीं रह सकती और देह न हो तो चारित्र कैसे रहे ? और चारित्र न होय तो सिद्धि कहां से होय ?

निरवद्य आहार शरीर का आधार होने से मुनिजन भी ग्रहण करते हैं, अतः कर्म निर्जरा के हेतु हे कुमार ! तूं भी ग्रहण कर।

शिवकुमार बोला कि-मुझे गृहवास में निरवद्य आहार कैसे प्राप्त हो ? इसलिये हे इभ्यपुत्र ! नहीं खाना ही उत्तम है। इभ्यकुमार बोला कि-आज से तूं मेरा सुगुरु है और मैं तेरा शिष्य हूँ, अतएव जो तूं चाहेगा वही मैं निरवद्य रूप से ला दूंगा।

तब शिवार्थी शिवकुमार बोला कि-जो ऐसा ही है तो मैं छट्ठ तप करके अशुभ नाशक आयंबिल का पारणा करूंगा। तब दृढ़धर्मकुमार अतिदृढ़ धर्मी शिवकुमार का निरवद्य अशनादिक से वैयावृत्य करने लगा।

अब गृहवास को पाश समान मानता हुआ तथा बंधुजन को बंधन समान गिनता हुआ शिवकुमार हर्ष से बारह वर्ष पर्यंत कठिन तप करके ब्रह्मदेव-लोक में विद्युन्माली नामक तेजस्वी देवता हुआ। वहां दश सागरोपम का आयुष्य भोग कर, वहां से च्यवन कर राजगृह नगर में ऋषभदत्त श्रेष्ठि की धारणी भार्या के गर्भ में जम्बू नामक पुत्र हुआ। वह जन्मा तब जम्बूद्वीप के अधिष्ठायक देव को भी अत्यन्त हर्ष हुआ।

उस महात्मा ने निन्यानवे कोटि धन और आठ उत्तम रूपवती स्त्रियां छोड़ कर माता पिता तथा प्रभव आदि अनेक जनों को

प्रतिबोधित कर श्रीवीरस्वामी के शिष्य सकलश्रुतनिधान सुधर्मास्वामी से दीक्षा ली। उक्त जम्बूस्वामी युगप्रधान हो कर चिरकाल तक शासन की प्रभावना करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को गये।

इस प्रकार शिव के समान गृहवास रूप पाश में जो वैराग्य धारण करे, वह कदाचित् यहां चारित्र नहीं प्राप्त कर सके तो भी परभव में निश्चयतः पावे।

इस प्रकार शिवकुमार की कथा समाप्त हुई।

इस भांति सत्रह भेदों में गेह रूप सातवां भेद कहा। अब दर्शनरूप आठवां भेद बताते हैं:—

अत्थिक्कभावकलिओ पभावणा-वन्नवायमाईहिं।
गुरुभत्तिजुओ धीमं धरेइ इय दंसणं विमलं॥ ६७॥

मूल का अर्थ—आस्तिक्यभाव सहित रहे, प्रभावना और वर्णवाद आदि करता रहे और गुरु की भक्तियुक्त होकर निर्मल दर्शन धारण करे।

टीका का अर्थ—भाव-श्रावक निर्मल दर्शन याने निरतिचार सम्यक्त्व धारण करे, यह मुख्य बात है। वह कैसा होकर करे, सो कहते हैं। देव, गुरु और धर्म में आस्तिक्य रूप जो भाव-परिणाम उनसे युक्त हो अर्थात् जिसको ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो कि-जिन, जिन-मत और जिनमतस्थित इन तीन को छोड़ कर शेष अखिल जगत् संसार की वृद्धि करने वाला है।

प्रभावना याने उन्नति सो शक्ति हो तो स्वयं करे । शक्ति न हो तो उसके करने वाले को सहायता करना तथा उसका बहुमान करना तथा वर्णवाद याने प्रशंसा और आदि शब्द से चैत्य बंधवाना, तीर्थयात्रा करना आदि कार्य समझना चाहिये । तथा गुरु अर्थात् धर्माचार्य में विशेष भक्तिवान हो अर्थात् उनकी प्रतिपत्ति करने में तत्पर हो । मतिमान् अर्थात् प्रशस्त बुद्धि धारण करने वाला हो, वह अमरदत्त के समान निष्कलंक दर्शन धारण कर सकता है ।

अमरदत्त का दृष्टांत इस प्रकार है :—

जैसे रत्नाकर का मध्यभाग विद्रुम (प्रवाल) की श्री से परिकलित और अति समृद्धिशाली वहाणों से अलंकृत होता है । उसी भांति विद्रुम से परिकलित (जर-जवाहर युक्त) और अति समृद्धिशाली लोगों से सुशोभित रत्नपुर नामक नगर था ।

वहां बौद्धमत का अनुयायी जयघोष नामक नगरसेठ था । वह जैन मुनियों पर द्वेष रखता था । उसकी सुयशा नामक भार्या थी । उनके अमरा नामक कुलदेवी का दिया हुआ अमरदत्त नामक पुत्र था । वह स्वभाव ही से शान्तचित्त था । उसका उसके मातापिता ने प्रथम यौवनकाल ही में जन्म पर्यंत तच्चनिक-बौद्ध-मत से वासित हृदय वाले इभ्य की कन्या से विवाह कर दिया ।

अब किसी समय वसंत ऋतु में अमरदत्त अपने मित्र के साथ पुष्पकरंड उद्यान में क्रीड़ा करने के हेतु आ पहुँचा । वहां खेलते खेलते उसने वृक्ष के नीचे एक मुनि को देखा । और उनके पास एक पथिक को भी रोता हुआ देखा । तब कौतुक से अमरदत्त

उसके समीप जाकर पूछने लगा कि–हे भद्र ! तूं क्यों रोता है ? तब वह गद्गद् स्वर से इस प्रकार बोला।

कंपिल्लापुर में सिंधुर सेठ की वसुन्धरा स्त्री के गर्भ में लाखों उपायों से मैं एक पुत्र उत्पन्न हुआ। मेरा नाम सेन रखा गया। अब मुझे छः मास हुए इतने में धन दौलत के साथ मातापिता की मृत्यु हो गई। तब से अति करुणा लाकर जिन जिन स्वजन-संबंधियों ने मुझे पाला वे सब मेरे दुष्कृत रूप यम से मारे जाकर नष्ट हो गये हैं।

इस प्रकार विषवृक्ष के समान अनेक जनों को संताप का हेतु मैं अभी तक देह व दुःख से बढ़ता रहा हूँ। किन्तु अभी भी जले हुए पर दग्ध के समान महान दुःखकारी ज्वरादि अनेक रोग मेरे शरीर में उत्पन्न हुए हैं। तथा बीच बीच में कोई भूत व पिशाच अदृष्ट रह कर मेरे अंग को ऐसा पीड़ित करता है कि–मैं कह भी नहीं सकता।

जिससे जीवन से उदास हो कर मैं निःसहाय हो कर वड़ वृक्ष में अपने गले में फांसी लेने लगा। इतने में वह फांसी झट से टूट पड़ी। तब मैं वैराग्य पाकर इन मुनि के पास पूछने आया हूँ कि "पूर्व में मैंने क्या किया होगा ?" और जन्म ही से मुझ पर पड़े हुए दुःखों का स्मरण करके रोता हूँ। यह कह कर उस पथिक ने उन मुनि से अपना वृत्तान्त पूछा।

अब वह साधु क्या कहेंगे, सो जानने को विस्मयरस से परिपूर्ण हुए अमरदत्त आदि जन एकाग्र मन से सुनने लगे। अब उन मुनि ने कहा कि–हे पथिक ! तूं यहां से तीसरे भव में मगध देशान्तर्गत गुब्बर ग्राम में देविल नामक कुलपुत्र था।

अब एक दिन राजगृह की ओर जाते तुझे रास्ते में कोई पथिक मिला व क्रमशः तूं ने जाना कि–वह धनाढ्य है। जिससे उसको विश्वास कराकर, रात्रि में उसे मार कर उसका सर्व धन ले, तूं आगे चला। इतने में तुझे भूखे सिंह ने मारा। जिससे तूं प्रथम नरक में जा कर, अनेक दुःख सह कर, वहां से निकल कर यह सेन हुआ है।

हे सेन! तूं ने उस समय जिस पथिक को मारा था वह अज्ञान तप करके असुर निकाय में देवता हुआ। उसने पूर्व का वैर स्मरण करके तेरे माता पिता व स्वजन सम्बन्धियों को मारे, तथा धन का नाश किया, साथ ही तेरे शरीर में रोग पैदा किये। तथा तेरी फांसी भी उसी ने काटी। वह इसीलिये कि–तूं चिरकाल दुःखी रहे तो ठीक। और बीच बीच में तुझे घोर पीड़ा देने वाला भी वही है।

यह सुन वह पथिक संसार से भयभीत हो, उक्त मुनि से अनशन लेकर नवकार स्मरण करता हुआ वैमानिक देव हुआ।

इस प्रकार पथिक का चरित्र सुन कर अमरदत्त भी अति संवेग पाकर उक्त मुनि को नमन करके, विनंती करने लगा कि–हे भगवन्! मुझे जिन-धर्म कहिये।

मुनि बोले कि–त्रिलोक को हैरान करने को तत्पर राग रूप शत्रु के नाशक होने से सुर, नर, किन्नरों से पूजित अरिहंत ही एक देव हैं। मोक्ष मार्ग साधक ज्ञान और चारित्र को धारण करने वाले सुसाधु सो गुरु हैं और सकल जगत के जंतुओं को परिपालन करने में प्रधान हो सो धर्म है। इसको समय में दर्शन कहते हैं। यह एक, दो, तीन, चार, पांच या दश प्रकार का कहलाता है।

एक विध सो तत्त्वरुचि है, निसर्ग से और उपदेश से वह दो प्रकार का है, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक, इस भांति तीन प्रकार का है। वहां मिथ्यात्व के क्षय से क्षपकश्रेणी में क्षायिकसम्यक्त्व होता है। उक्त क्षपकश्रेणी चौथे, पांचवें, छठे वा सातवें गुणस्थान से शुरु की जाती है। वहां अंतर्मुहूर्त में समकाल से अनंतानुबंधि कषायों का क्षय करे। अब जो पूर्व में बद्धायु हो तो वहीं रुका रहे। वहां मिथ्यात्व का उदय हो तो पुनः अनन्तानुबंधि बांधे। इस प्रकार अनन्तानुबंधियों की उत्कृष्ट से आठ वक्त उद्वलना होती है।

यदि कोई बद्धायु हो कर अखंडश्रेणी करने वाला हो तो शुभ भाव से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोह का क्षय करता है। वहां जो अनन्तानुबंधि का क्षय होने पर बद्धायु मरे तो देवत्व में उत्पन्न होवे, और मिथ्यात्व क्षय होने पर बीज का नाश होने से पुनः अनन्तानुबंधि न बांधे।

इस प्रकार सातों प्रकृतियों का क्षय होने पर भी जो न मरे, तो चारों गति में जावे और वहां तीसरे वा चौथे भव में सिद्ध हो जाता है। सुर व नर का भव बीच में आने पर तीसरे भव में और युगलिये का भव बीच में आने पर चौथे भव में क्षायिक सम्यग् दृष्टि मोक्ष को जाता है, किन्तु यह सम्यक्त्व जिन भगवान के समय के मनुष्यों को होता है।

है पर अंत नहीं ऐसा माना गया है। अब क्षयोपशमसम्यक्त्व, जो कि सर्वकाल में होता है, सो सुन।

जो उदीर्ण मिथ्यात्व होता है, वह क्षीण होता है, और अनुदीर्ण होता है सो उपशान्त करने में आता है। इस प्रकार मिश्रीभाव के परिणाम से वेदाता हो सो क्षयोपशम है। वहां जो पूर्व में आयुष्य न बांधा हो तो वह वैमानिक के सिवाय दूसरा आयुष्य नहीं बांधता और यह सम्यक्त्व सर्वत्र चारों गति में होता है।

अब औपशमिक सम्यक्त्व को भव्यजीव इस भांति पाते हैं:—अव्यवहार राशि में अनंत पुद्गलपरावर्त्त भटक कर—भवितव्यता के योग से तथा कर्म की परिणतिवश व्यवहार-राशि में आकर जीव चिरकाल एकेन्द्रियादिक में रहता है। तदनन्तर चिरकाल तक त्रसों में भ्रमण कर के प्रायः अंतिम पुद्गलपरावर्त्त में संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्त रीति से बढ़कर परिणाम में सत्तर कोटाकोटि सागरोपम मोहनीय की स्थिति, बीस कोटाकोटि सागरोपम नाम गोत्र की और शेष चार की तीस कोटाकोटि सागरोपम तथा तेंतीस सागरोपम आयुष्य की स्थिति इस प्रकार उत्कृष्टी कर्म स्थिति है। उसमें से पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम केवल एक कोटाकोटि सागरोपम स्थिति छोड़ कर शेष सब का क्षय कर डालता है।

पर्वत की नदी के पत्थर के समान जीव अनाभोग से हुए यथा-प्रवृत्ताकरण से ग्रंथि के समीप आता है। ग्रंथि याने कठोर और दृढ़ बंधी हुई गूढ़ गांठ के समान जीव का कर्मजनित अति दुर्भेद्य सख्त राग द्वेष का परिणाम जानो।

इस स्थान में अभव्य भी अनंत बार आते हैं और द्रव्यश्रुत पाते हैं, किन्तु सम्यक् श्रुत नहीं पाते और पुनः वे उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं। किन्तु भव्यजीव अपूर्वकरण से उक्त ग्रंथि को भेद

हैं और सात आठ भव में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अथवा उपशमश्रेणी में उपशमसम्यक्त्व होता है। उसका प्रस्थापक अप्रमत्त यति अथवा अविरत होता है।

चार अनंतानुबंधि, दर्शनत्रिक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क, और पुरुषवेद इतनी प्रकृतियां एकांतरित दो दो समान समान उपशमावें। अब क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व को जो विशेषता है वह कहते हैं:—उपशम सम्यक्त्वी मिथ्यात्व को प्रदेश से वेदता नहीं। क्योंकि—जो उपशान्त कर्म है, उसे वहां से निकालता नहीं। उदय में लाता नहीं, परप्रकृति में परणमित करता नहीं और उसका उद्वर्तन भी करता नहीं।

क्षयोपशमसम्यक्त्व कलुष पानी के समान है। उपशम सम्यक्त्व प्रशांत पानी के समान है और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल पानी के समान है। क्षायिक आदि तीन सम्यक्त्व के साथ सास्वादनसम्यक्त्व जोड़ें तो उसके चार प्रकार होते हैं और उसमें वेदक जोड़ें तो पांच प्रकार के होते हैं। वहां मिथ्यात्व के अंतिम पुद्गल वेदे जाने से वह वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। दश प्रकार का सम्यक्त्व इस प्रकार है।

निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि संक्षेपरुचि और धर्मरुचि। इस भाँति रुचि की अपेक्षा से दश प्रकार का है। क्रियासहित सम्यक्त्व कारक कहलाता है, तत्त्व की रुचि रोचकसम्यक्त्व है। मिथ्यादृष्टि होने पर भी तत्त्व बतलावे उनका नाम दीपक—सम्यक्त्व है।

निश्चय से सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में रहने वाले विशुद्ध चारित्रधारी को होता है और अविरत को इतर (व्यवहार से)

सड़सठ भेद इस प्रकार हैं:—

चार सद्दहणा, तीन लिंग, दश प्रकार का विनय, तीन शुद्धि, पांच दूषण, आठ प्रभावनाएं, पांच भूषण, पांच लक्षण । छः प्रकार की यतनाएं, छः आगार, छः भावना और छः स्थान इस प्रकार सड़सठ भेद सहित सम्यक्त्व है ।

इसके विवरण की गाथाएं—जानते हुए के पास आगम का अभ्यास करना, गीतार्थ यतिजन की सेवा करना, सम्यक्त्वहीन पार्श्वस्थादिक तथा कुदर्शनियों का त्याग करना। ये चार सम्यक्त्व की सद्दहणाएं हैं।

तीन लिंग ये हैं:—भूखा जिस भांति घेवर खाने की इच्छा करता है, उसी भाँति शास्त्र सुनने की इच्छा रखना । अनुष्ठान में रुचि रखना तथा देव-गुरु की भलीभांति वैयावृत्य करना। जिन, सिद्ध, प्रतिमा, श्रुत, धर्म, संघ, गुरु, उपाध्याय, साधु तथा सम्यक्त्व इन दश में अवज्ञा व आशातना का त्याग, स्तुति, भक्ति और बहुमान रखना, सो दस प्रकार का विनय है ।

तुझे वहां इतनी देर क्यों लगी ? तब उसके मित्रों ने सर्व वृत्तान्त कह सुनाया।

तब जयघोष क्रुद्ध होकर बोला कि अरे अभागे ! तूंने कुलागत श्रेष्ठ धर्म का त्याग कर के यह धर्म क्यों स्वीकारा ? अतः यह श्वेताम्बर भिक्षुओं का धर्म छोड़ दे और भिक्षुधर्म करता रह अन्यथा तेरे साथ मुझे बोलना भी उचित नहीं है।

कुमार बोला कि—हे पिता ! खरे सोने की भांति धर्म भी बराबर परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिये । केवल कुलागतपन ही से धर्म न मानना चाहिये । प्राणीवध, अलीकभाषण, चोरी और परस्त्री का जिसमें पूर्णतः वर्जन है, ऐसा व पूर्वापर अविरुद्ध यह जिन-धर्म है, अतएव वह अयुक्त कैसे कहा जा सकता है ? जैसे व्यापारी ऊंचा माल खरीदते हीलना का पात्र नहीं होता वैसे ही मैंने भी उत्तम धर्म को स्वीकार किया है, तो मेरी हीलना करना योग्य नहीं।

यह सुन हठीला सेठ बोला कि-अरे मूर्ख ! तुझे जो रुचे सो कर। आज के बाद तुझे बुलाना उचित नहीं । तथा यह बात सुनकर उसके श्वसुर ने भी कहला भेजा कि—जो मेरी लड़की से तुम को काम हो तो शीघ्र ही जिनधर्म छोड़ देना। अमरदत्त ने विचार किया कि—इस जिन-धर्म के सिवाय दूसरा सब अनंत वार पाया हुआ है। यह सोचकर उसने अपनी स्त्री को उसके पिता के घर भेज दी।

एक दिन उसकी माता ने कहा कि—हे वत्स ! तुझे अच्छा लगे सो धर्म कर, हम उसमें विघ्न नहीं करते । किन्तु अमरा नामक कुलदेवी की तो तुझे पूजा करना पड़ेगा, क्योंकि-इसी के प्रसाद से तेरा जन्म हुआ है, तब कुमार इस प्रकार बोला—

कि-जिनमें कि एक ही वेदना दूसरे मनुष्य के प्राणों ही को हर ले, तथापि यह दृढ़-सत्त्व अपने मन में इस प्रकार विचारने लगा।

हे जीव! शिवपुर के मार्ग में चलते हुए इस भव रूप अरण्य में मुझे पूर्व में कभी भी नहीं मिले हुए श्री अर्हंत देव इस समय सार्थवाह के रूप में मिले हैं। अतः उनको हृदय में रखकर मरना कल्याणकारी है, और उनको त्यागने से जीवित रहने पर भी अनाथ हो जावेगा।

हे जीव! तुझे यह दुःख किस हिसाब में है? तूं ने सम्यक्त्व न पाने से नरक में भटक भटक कर अनन्तों पुद्गल-परावर्त तक दुःख सहे हैं। तथा देवी प्रतिकूल हो जाओ, माता पिता पराङ्मुख हो जाओ, व्याधियाँ शरीर को पीड़ा करा करो, स्वजन सम्बन्धी निन्दा किया करो। आपदाएँ आ पड़ो, लक्ष्मी चली जाओ, किन्तु एक जिनेश्वर में स्थित भक्ति तथा उनके कहे हुए तत्त्वों में तृप्ति (श्रद्धा) न जाओ।

इस प्रकार अमरा देवी अवधिज्ञान से उसका दृढ़निश्चय युक्त चित्त देखकर उसके सत्त्वगुण से प्रसन्न हो, उपसर्गों का संहार कर कहने लगी कि-- हे महाशय तूं धन्य है, और तीनों लोक में तूं ही श्लाघनीय है, कि--जिसकी श्री वीतराग के चरणों में ऐसी दृढ़ आसक्ति है। आज से मुझे भी वे ही देव और वे ही गुरु हैं, तथा हे धीर! तत्त्व भी जो तूने अंगीकृत किया है वही मान्य है।

यह कह उसने संतुष्ट हो अमरदत्त के ऊपर सुगन्ध से मिले हुए भ्रमरों के गुंजारव युक्त पाँच वर्ण के फूलों की वृष्टि की। यह महा आश्चर्य देखकर अमरा देवी के वचन से उसके माता

को कुरुचन्द्र राजा के समान तज कर सुपरीक्षितकारी अर्थात् समुचित विचार करके प्रत्येक क्रिया करता है।

कुरुचन्द्र राजा की कथा इस प्रकार है।

गद (रोग) रहित तथापि सगज (हाथियों सहित) किसी से भी अहत (अपराजित) व सर्वदा सुभग- कंचनपुर नामक नगर था, वहाँ कुरुचन्द्र नामक नरेन्द्र था। उसका जिनोदित सात तत्त्व रूप सात उत्तम घोड़ों से चलने वाला और सूर्य के समान अज्ञात रूप अंधकार के जोर को रोकने वाला रोहक नामक मन्त्री था।

अब उक्त राजा गडरिप्रवाह छोड़कर उत्तम धर्म को भली-भांति जानने की इच्छा करता हुआ मन्त्री को इस भांति कहने लगा---कि हे सचिवपुंगव! मुझे कह कि कौनसा धर्म उत्तम है? तब मन्त्री बोला कि-सहज में देव और मनुष्यों को हीलने वाली इन्द्रियों के जय का जहाँ वर्णन किया हो वह धर्म उत्तम है।

राजा ने कहा कि---वह किस प्रकार जाना जाय? तब मंत्री बोला कि---जैसे यहाँ उदगार से न देखे हुए भोजन की भी खबर पड़ती है, वैसे ही वचन पर से उसकी खबर पड़ सकती है।

यह सुन राजा बोला कि---जो ऐसा ही है तो, हे महामंत्री! तू सर्व धर्म वालों को बुलाकर धर्म की विचारणा चला।

तब मंत्री ने वह बात मान कर "सकुंडलं वा वयणं नवत्ति" ऐसा समस्या का यह पद लिखकर पटिये पर लटका कर लोगों को कहा कि---जो इस पद के साथ मिलते हुए अर्थ वाले पदों से समस्या पूर्ति करके राजा को प्रसन्न करेगा, उसी का वह भक्त होवेगा।

तब राजा के पण्डितों को उन काव्यों में अच्छा बुरा परखने को पूछने पर वे बोले कि, हे देव ! हम इनमें कुछ भी फर्क नहीं देखते। तथा इनमें जो इन्होंने विक्षिप्तचित्तता बताई है सो स्पष्टतः अजितेन्द्रियपन बताई है, और वह तो अधर्म है, अतः यह विचारणीय है।

यह सुन राजा स्वयं उन काव्यों को विचार कर बोला कि—हे मंत्री ! मैं अब उत्तम धर्म किस प्रकार जान सकूंगा ? मंत्री बोला कि हे नरेश्वर ! यहां अभी जिन-दर्शन के भी मुनि हैं। वे पदार्थ के ज्ञाता, महाव्रत के पालने वाले और महागोप के समान हैं।

वे तृण व मणि, शत्रु व मित्र, तथा रंक व राजा में समान दृष्टि रखने वाले, मधुकर वृत्ति से प्राण वृत्ति करने वाले और धर्म-फल के वृक्ष समान हैं। तथा वे जितेन्द्रिय और परीषह तथा कषाय के जीतने वाले होकर स्वाध्याय ध्यान में तत्पर रहते हैं, अतः वे बुलाने पर भी यहां आयेंगे वा नहीं सो मैं नहीं जानता।

राजा बोला कि हे मंत्रिवर ! उन महा मुनियों को शीघ्र बुला। तब मंत्री ने एक अक्षुद्र बुद्धि वाले क्षुल्लक मुनि को वहां बुलाया उन्हें नमन करके राजा ने कहा कि—हे क्षुल्लक ! क्या तुम काव्य रचना जानते हो ? वे बोले, हां गुरुचरणप्रसाद से जानता हूं तब कुरुचंद्र राजा ने उनको वह समस्या पद दिया। मुनि ने शृंगार रस को छोड कर इस प्रकार समस्या पूर्ति करी।

> खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स अज्झप्पजोगे गय माणसस्स।
> किं मज्झ एएण विचिंतिएणं सकुंडलं वा वयणं न वत्ति॥

क्षांत, दांत, जितेन्द्रिय और अध्यात्म योग में मन रखने वाले मुझ को ऐसा सोचने की क्या आवश्यकता है कि उसका वदन कुंडल युक्त है वा नहीं।

नत्थि परलोयमग्गे पमाणमन्नं जिणागमं मुत्तुं ।
आगमपुरस्सरं चिय करेइ तो सव्वकिरियाओ ॥६९॥

मूल का अर्थ—परलोक के मार्ग में जिनागम समान दूसरा [प्र]माण नहीं। इसलिये आगम पुरस्सर ही सर्व क्रियाएं करें।

टीका का अर्थ –पर याने प्रधान लोक अर्थात् मोक्ष उसके [म]ार्ग में अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में जिन याने [र]ागादिक के जीतने वाले, उनके कहे हुए सिद्धान्त को छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण अर्थात् विश्वास कराने वाला सबूत नहीं, क्योंकि उसी को अन्यथापन की असंभावना है क्योंकि कहा है कि—

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥

राग से, द्वेष से वा मोह से असत्य वाक्य बोला जाता है। अब जिसको ये दोष न हों उसको असत्य बोलने का क्या कारण? [त]था उसका पूर्वापर अविरोध है । वह इस प्रकार है कि— [ज]ैसे धर्म का मूल जिनेश्वर ने कृपा करके बताया। उसी के अनु-[स]ार क्रिया भी प्राणियों को हितकारी ही बताई है। यथा—आदि में सामायिक बताया है। उसी का रक्षण करने वाले क्षांति आदि [ब]ताये हैं। अतः आगम की पर्यालोचनापूर्वक ही सर्व देववंदन, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि क्रिया करे, वरुण महाश्रावक के समान।

देववंदन की विधि इस प्रकार है।

दशत्रिक, पांच अभिगम, दो दिशा, तीन अवग्रह, तीन प्रकार की वंदना, प्रणिपात, नमस्कार, सोलह सौ सैंतालिस वर्ण।

और पृष्ठ भाग उससे कम अंतर पर हो, इस प्रकार पग रख कर कायोत्सर्ग से खड़ा रहना, सो जिनमुद्रा है। दोनों हाथ समान मिलाकर वे कपाल को लगाये जावें। कितनेक कहते हैं अलग रखा जावे, सो मुक्ताशुक्ति मुद्रा है।

पंचाग से नमना सो प्रणिपात, शक्रस्तवपाठ योगमुद्रा से किया जाता है। वंदन जिनमुद्रा से किया जाता है और प्रणिधान मुक्ताशुक्ति मुद्रा से किया जाता है।

चैत्यवंदन मुनिवंदन और प्रार्थनारूप तीन प्रणिधान हैं अथवा मन, वचन और काया का एकत्व (एकाग्रता) सो तीन प्रणिधान हैं शेष त्रिकों का अर्थ स्पष्ट ही है।

सचित्तद्रव्य त्यागना, अचित्तद्रव्य रखना, एकाग्रता, एकसाडि उत्तरासंग और जिन का दर्शन होते समय अंजली बांधना. ये पांच अभिगम हैं।

इस भांति पांच प्रकार अभिगम कहा अथवा पांच राजचिह्न छोड़ना, सो इस प्रकार कि खड्ग, छत्र, उपानह (जूते) मुकुट और चामर।

पुरुष जिन-प्रतिमा की दाहिनी ओर खड़े रहकर वंदन करें और स्त्रियां बाईं ओर खड़ी रह कर वंदन करें। जघन्य अवग्रह नौ हाथ है, साठ हाथ का उत्कृष्ट अवग्रह है और बाकीका मध्यम अवग्रह है।

नवकार बोलना जघन्य चैत्यवंदन है, दंडक और स्तुति युगल बोलना मध्यम चैत्यवंदन है। पांच दण्डक और चार थुई तथा स्तवन और प्रणिधान बोलना उत्कृष्ट चैत्यवंदन है।

प्रणिधान में १५२ वर्ण हैं और नवकार, खमासमण, इरियावही, शक्रस्तव, चैत्यस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव और प्रणिधान में क्रमशः सात, तीन, चौवीस, तैंतीस, उन्तीस, अट्ठावीस, चौंतीस, उन्तीस, और बारह गुरु वर्ण अर्थात् संयुक्त अक्षर हैं।

पांच दंडक सो शक्रस्तव, चैत्यस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव, और सिद्धस्तव है। उसमें क्रमशः दो, एक, दो, दो और पांच मिलकर बारह अधिकार हैं।

बारह अधिकार के प्रथम पद इस प्रकार हैं—नमु, जेइअ, अरिहं, लोग, सव्व, पुक्ख, तम, सिद्ध, जो देवा, उज्जि, चत्ता, वेयावच्चग। चार वंदनीय सो जिन, श्रुत, सिद्ध और मुनि हैं। देवता स्मरण करने योग्य हैं। चार प्रकार के जिन–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से जानो। नाम जिन जिनके नाम हैं। स्थापना जिन उनकी प्रतिमा है। द्रव्य जिन उनके जीव हैं और भाव जिन समवसरण में बैठे हुए जीव हैं।

पहिले अधिकार में भाव–जिन की वंदना की है, दूसरे में द्रव्य–जिन को वंदना की है, तीसरे में एक चैत्य में रहे हुए स्थापना–जिन की वंदना की है, चौथे में नाम–जिन की वंदना की है, पांचवें में तीनों भुवनों के स्थापना–जिनों की वंदना की है, छट्ठे में विहरमान–जिनों की वंदना की है, सातवें में श्रुतज्ञान की वंदना की है और आठवें में सर्व सिद्ध की स्तुति की है।

नवमें अधिकार में तीर्थाधिपति वीर प्रभु की स्तुति है, दशवें में उज्जयंत (गिरनार) की स्तुति है, और ग्यारहवें में अष्टापद की स्तुति है और बारहवें में सम्यग्दृष्टि देवता का स्मरण है।

वह होता है जो कि गंभीर, मधुर शब्द वाला और महान् अर्थ से युक्त हो।

प्रातः के प्रतिक्रमण के समय, जिनमंदिर में जाते, भोजन करते, दिवसचरिम लेते, संध्या के प्रतिक्रमण के समय, सोते व जागते, इस प्रकार मुनि को रात दिन में सात वार चैत्यवंदन करना पड़ता है।

प्रतिक्रमण करने वाले गृहस्थ को भी सात वक्त चैत्यवंदन करना होता है। प्रतिक्रमण न करने वाले को पांच वार करना होता है। जघन्य से तीनों संध्या समय तीन वार तो चैत्यवंदन करना ही चाहिये।

आशातना दश हैं:—ताम्बूल, पान, भोजन, उपानह, मैथुन, शयन, निष्ठीवन, मूत्र, उच्चार और जुआ ये दश आशातनाएं जिनेश्वर के गर्भ-गृह में नहीं करना चाहिये।

दूसरे आचार्य तो चौरासी आशातनाएं कहते हैं। यथा—१ खेल श्लेष्म, २ क्रीड़ा, ३ कलह, ४ कला, ५ कुललय, ६ तम्बोल, ७ उद्गारना, ८ गाली, ९ लघुनीति वडीनीति करना, १० शरीर धोना, ११ केश, १२ नख, १३ लोही, १४ सेका हुआ धान्य, १५ त्वचा, १६ पित्त, १७ वमन, १८ और दांत डालना, १९ चंपी कराना, २० दमन करे, २१ दांत, २२ आंख, २३ नख, २४ गंडस्थल, २५ नासिका, २६ मस्तक, २७ कान, २८ और सारे अंग का मल डालना, २९ मंत्र, ३० मीलन, ३१ नामा लिखें, ३२ मांग निकालना, ३३ अपना भंडार रखना, ३४ दुष्टासन से वैठना, ३५ गोमय सुखाना, ३६ कपड़े सुखाना, ३७ दाल सुखाना, ३८-३९ पापड़ वड़ी सुखाना, ४० राजादि भय से छिपाना, ४१ आक्रंद करना, ४२ विकथा करना, ४३ हथियार

बनाना, ४४ तिर्यंच बांधना, ४५ अग्नि जलाना, ४६ राँधना, ४७ परीक्षण करना, ४८ निसीहि भंग करना, ४९ छत्र, ५० उपानह, ५१ शस्त्र, ५२ चामर धारण करना, ५३ मन की चंचलता रखना, ५४ अभ्यंग करना, ५५ सचित्त वस्तु साथ में रखना, ५६ अचित्त का त्याग करना, ५७ जिन मूर्ति के दीखते ही अंजली न करना, ५८ एक साटी उत्तरासंग न करना, ५९ मुकुट, ६० मौलिया, ६१ शिरः शोखा रखना, ६२ शते, ६३ गेंद बल्ला खेलना, ६४ जुहार करना, ६५ भांड चेष्टा करना, ६६ रेकार, ६७ धरपकड़, ६८ लड़ना, ६९ बाल-केश का विवरण, ७० पालकी बार के बैठना, ७१ पादुका पहिरना, ७२ पाँव फैला कर बैठना, ७३ पुट पुटिका देना, ७४ पंक करना, ७५ धूली डालना, ७६ मैथुन, ७७ जू डालना, ७८ जिमना, ७९ युद्ध, ८० वैद्यक, ८१ व्यापार करना, ८२ शय्या, ८३ पानी पीना, ८४ मज्जन करना, इत्यादि सदोष काम सरल मनुष्य ने जिन मन्दिर में न करना चाहिये।

मुंहपत्ति की पचीस पडिलेहणा (प्रतिलेखन) पचीस आवश्यक, छः ठाण, छः गुरुवचन, छः गुण, पांच अधिकारी, पांच अनधिकारी, पाँच प्रतिषेध, एक अवग्रह, पाँच अभिधान, पाँच उदाहरण, तैंतीस आशातना, बत्तीस दोष और आठ कारण इस प्रकार कुल १९२ स्थान वंदना में होते हैं।

मुंहपत्ति की पचीस पड़िलेहणाएं इस प्रकार हैं:—एक दृष्टि पड़िलेहणा तीन और तीन मिलकर क्रमशः छः अक्खोड़ा व नव और नव मिलकर १८ पक्खोड़ा इस भांति २५ हैं।

प्रदक्षिणा से दोनों बाहु पर, मस्तक पर, मुख पर और उदर में तीन तीन, पीठ पर चार और पग में छः इस प्रकार २५ बार मुहपत्ति फेरना तथा पचीस शरीर पड़िलेहणा हैं।

दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार बार शिरः स्पर्श, तीन गुप्ति, दो प्रवेश, और एक निष्क्रमण, इस प्रकार पचीस आवश्यक हैं। इच्छा, अनुज्ञापना, अव्याबाध यात्रा, यापना और अपराध, क्षामणा ये छः स्थान हैं। छंदेण, अणुजाणामि, तहत्ति, तुब्भंपि वट्टए, एवं (अर्थात् पूर्व का वाक्य दो बार बोला जाता है.) अहमवि खामेमि तुमं, इस प्रकार छः वंदनीय गुरु के वचन हैं।

विनयोपचार सम्पन्न किया जाय, मान टले, गुरुजन की पूजा हो, तीर्थंकर को आज्ञा का पालन हो, श्रुत धर्म की आराधना हो और क्रिया का पालन हो, इस प्रकार छः गुण हैं।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, और रत्नाधिक इन पांच को निर्जरा के हेतु वंदन करना। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, और यथाछंद ये पांच जैनमत में अवंदनीय कहे गये हैं।

पांच वंदन का प्रतिषेध ये हैं—गुरु कामकाज में रुके हों, पराङ्मुख बैठे हों, सोये हों, आहार करते हों वा निहार करते हों तब उनको वंदन नहीं करना चाहिये।

देवेन्द्र, राजा, गृहपति, सागारि, और साधर्मि इन पांच के पांच अवग्रह हैं। उसमें से यहां गुरु का अवग्रह है वह चारों ओर उनके शरीर के प्रमाण से है। वंदनकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनय कर्म ये पांच वंदन के पर्याय नाम हैं।

शीतलाचार्य, क्षुल्लक, कृष्ण, सेवक और पालक ये पांच वंदन में दृष्टान्त हैं।

उपचार रहित अर्थात् वांदना देते ही अनवस्थित हो जैसे भाटको भांड डालकर चला जाय, वैसे वंदन छोड़कर चला जाय सो अपविद्ध दोष है।

इकट्ठे हुए सब साधु को एक वांदना से वन्दन करे अथवा वाक्य गचबुच करके वंदन करे, सो परिपिंडित दोष है। टोल (टिड्डी) के समान उडता हुआ आगे पीछे जाकर वंदन करे, सो टोलगति दोष है।

अवज्ञा से उपकरण हाथ में पकड़ कर विठाकर वंदन करे, सो अंकुश दोष है। कछवे के समान रिंगण (गति) करके अर्थात् धीमे-धामे चलकर वन्दन करे, वह कच्छपरिंगित है। उठता बैठता हुआ पानी में मत्स्य जिस भांति उछलता है उस भांति बलखावे अथवा वहां बैठा हुआ अंग को फिराकर दूसरे को वंदन करे, सो मत्स्योद्वर्त दोष है।

अपने निमित्त अथवा दूसरे के निमित्त अनेक प्रकार से उठने वाला मन का प्रद्वेष सो मनःप्रद्विष्ट है। पंच वेदिका बांध कर वन्दन करे, सो वेदिकाबद्ध दोष है। भय याने ऐसा न हो कि गच्छ से बाहिर कर दें, सो भय दोष है। वर्तमान में अनुकूल हो अथवा भविष्य में अनुकूल हो ऐसे अभिप्राय से निहोरक देकर वन्दन करे. सो भजंत दोष है। इसी भांति मैत्री के लिये वन्दना करे सो मैत्री दोष है और गारव के हेतु अर्थात् मैं शिक्षा में कैसा विनीत हूँ, ऐसा बताते हुए वन्दन करे सो गारव दोष है

का मूल्य विचार कर गुरु मेरे साथ प्रीतिभंग नहीं करेंगे, ऐसा विचार कर वन्दन करना सो सर्व कारण दोष है।

दूसरों से अदृष्ट हो कर वन्दन करे, और कहीं मेरी हीनता न हो जाय इस विचार से चोर की भांति छिपे सो स्तैनिक दोष है।आहार अथवा निहार के समय वन्दन करे सो प्रत्यनीक दोष है। रोष से धमधमता हुआ वन्दन करे सो रुष्ट दोष है।

वन्दना करते ऐसा बोले कि तुम काष्ट के शिव समान न कोप करते हो और न कृपा करते हो सो तर्जित दोष कहलाता है अथवा गुरु को नमन करते मस्तक और अंगुलियों से तर्जन करे सो तर्जित दोष कहलाता है। वन्दना करने से विश्वास जमेगा, इस भांति वास्तविक भाव में शिथिल हो ठगने के लिये वन्दना करे सो शठ दोष है। क्योंकि कपट, कैतव और शठता ये सब एकार्थ हैं।

अरे! ये तो गणि हैं, वाचक हैं, ज्येष्ठ हैं, आर्य हैं, इनको मेरे नमने से क्या होगा? इस प्रकार बोलकर वन्दन करना सो हीलित दोष है। आधा वन्दन करते बीच ही में विकथा चलाना, सो परिकुंचित दोष कहलाता है।

अन्तरित हो अथवा अंधेरे में हो तो वन्दना न करे और दीखता हो तो वन्दन करे, यह दृष्टादृष्ट दोष है। ललाट के पास दो अंजली बांधकर वन्दना करे सो शृंग दोष है। वन्दना करते उसे कर के समान आर्हतिक (अर्हत् का) कर माने, सो कर दोष है और (मन में चिन्तवन करे कि) लौकिक कर से छूटे किन्तु वन्दन के कर सेनहीं छूटते, सो करमोचन दोष है।

रजोहरण और मस्तक पर हस्त लगे, नहीं लगे उससे चौभंगी होती है। वहां रजोहरण और मस्तक बिलकुल लगाकर

वन्दना करे सो आश्लिष्ट और विलकुल न लगावे सो अनाश्लिष्ट वह आश्लिष्टानाश्लिष्ट दोष है। वचन व अक्षर से कम बोले अथवा दूसरों से कम समय में वन्दना कर ले सो ऊन दोष है।

वन्दना करके "मत्थएण वंदामि" यह पद बोले तो उत्तर-चूलिका दोष कहलाता है। गूंगे के समान शब्द बोले विना वन्दना करे सो मूक दोष है। ढड्ढर स्वर से जो सूत्र बोले, सो ढड्ढर दोष है। चूडली के समान रजोहरण लेकर वन्दना करे सो चूड़ली दोष है। इस प्रकार वत्तीस दोष गिने जाते हैं।

वन्दन के आठ कारण इस प्रकार हैं :—

प्रतिक्रमण के लिए, स्वाध्याय के लिए, कायोत्सर्ग के लिए, अपराध कहने के लिए, प्राहुणा आने पर, आलोचना के लिए, संवरण (प्रत्याख्यान) के लिए और उत्तमार्थ (अनशन) के लिए यह आठ कारणों में वन्दना की जाती है।

प्रत्याख्यान की विधि इस प्रकार है:—

दश प्रत्याख्यान, तीन विधि, चार आहार, अपुनरुक्त वाईस आगार, दश विकृति, तीस विकृतिगत, १४७ भंग और छः शुद्धि। ये आठ द्वार हैं।

नवकारसी और रात्रिभोजन का पच्चक्खाण मुनियों को चौविहार रूप होते हैं और बाकी के पच्चक्खाण तिविहार वा चौविहार रूप होते हैं। श्रावक को रात्रि भोजन, पोरिसी, पुरिमड्ढ एकाशन आदि दुविहार तिविहार वा चौविहार रूप होती है। (नौकारसी तो श्रावक को भी चौविहार रूप होती है।)

मूंग, भात, सत्तू, मांडा, दूध, खाजा, कंद, राब आदि अशन गिने जाते हैं। पान में कांजी, यव, केरा व कक्कड आदि का पानी जानो। खादिम में सेके हुए धान्य तथा फल-मेवा जानो। स्वादिम में सौंठ, जीरा, अजवाइन, मधु, गुड़, तम्बोल आदि जानो और गौमूत्र तथा नीम आदि अनाहार हैं।

नौकारसी में दो आगार हैं। पोरसी में छः, पुरिमड्ढ में सात, एकाशन में आठ, एकठाणे में सात, आयंबिल में आठ, उपवास में पांच, पानक में छः, चरिम में चार, अभिग्रह में चार, प्रावरण में पांच और नीवी में नौ वा आठ आगार हैं, किन्तु द्रवविकृति में उत्क्षिप्त विवेक आगार छोड़कर आठ ही आगार हैं।

भूल जाना अनाभोग है १। अचानक अपने आप कोई वस्तु मुंह में चली जावे वह सहसाकार है २। बादल के कारण समय ज्ञान न हो, वह प्रच्छन्न काल है ३। दिग्विपर्यास हो जाने, वह दिशामोह है ४। उग्घाडा पोरिसी ऐसा साधु बोले सो साधु वचन है ५। शरीर की स्वस्थता समाधि है ६। संघादिक का कार्य महत्तरागार है ७। गृहस्थ वा चांदी आदि सागारि आगार है ८। अंगों को हेरना फेरना आउंटणपसारण कहलाता है ९। गुरु वा प्राहुणे साधु आने पर उठना गुरु अभ्युत्थान आगार है १०। विधि-गृहीत अधिक अन्न के विषय में स्थापन विधि लेते पारिट्ठावणि आगार कहलाता है ११। यतिओं को प्रावरण में कटिपट्ट का आगार होता है १२।

खरड़ाये बाद पोंछी हुई डोई आदि लेप है। दूध में बांधे हुए संसृष्ट मांडा बंधी हुई विगई को अलग करने से उत्क्षिप्त होती है, और अंगुली से किंचित् चुपड़ा हुआ म्रक्षित कहलाता है। द्राक्ष का पानी लेवाड़ कहलाता है। सौवीर (कांजी) का पानी अलेवाड कहलाता है। उष्णजल अच्छ कहलाता है। धोवन का पानी और आचाम्ल (खटाई वाला) पानी बहल कहलाता है। दानावाला पानी ससिक्थ कहलाता है और उससे अन्य असिक्थ कहलाता है।

पोरिसी, साढ़पोरिसी अवड्ढ, द्विभक्त ऐसे प्रत्याख्यान पोरिसी के समान ही हैं और अंगुष्ठ, मुष्टि, ग्रन्थि तथा सचित्तद्रव्य का प्रत्याख्यान अभिग्रह में है।

दूध, घी, दही, तेल, गुड़ और पक्वान्न ये छः भक्ष्य विगई हैं, उसमें गाय, भैंस, ऊंटनी, बकरी और भेड का दूध, ऐसे पांच दूध हैं। ऊंटनी के सिवाय चार भांति के घी तथा दही हैं। तिल, सरसों, अलसी और लट्ट ये चार जाति के तेल हैं। (लट्ट-लाट. खसखस समान धान्य का तैल होना चाहिये) द्रवगुड़ और पिंड-गुड़ ऐसा दो जाति का गुड़ है। तैल में तला हुआ और घी में तला हुआ दो जाति का पक्वान्न है।

किट्टि और पक्का घी ऐसे घी के पांच निविियाता हैं। दही की पांच निवियाता सो करंब, श्रीखंड, सलूणी दही, छना हुआ दही और घोलवड़ा है।

तेल की पांच निवियाता सो तिलपापड़ी, निर्भंजन, पक्का तेल, औषधि में पकाया हुआ तेल की तरी और तेल की मली है, गुड़ की निवियाता सो शक्कर, गलवाणी (गुड़ का पानी), पाक, मिसरी और सांटे का उकाला हुआ रस है।

एक ही तवा में तला हुआ दूसरा पुडला १। मूल घी – तेल में तली हुई वस्तु का चौथा घाण २। गुड़धानी ३। जल लापसी ४, और पोतकृत पुडलो ५। ये पांच पक्वान्न का निवियाता है।

भात के ऊपर चार अंगुल दूध, दही और एक अंगुल द्रवगुड़, घृत, तैल और हरे आंवले के समान पिंडगुड़ की डली वाला चुरमा यह संसृष्ट द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य से नष्ट हुई विकृति याने कि शालि, चावल आदि से निर्वीर्य की हुई क्षीरादिक विगई तथा वर्णकादिक से नष्ट की हुई ऐसी जो घृतादिक विगई, विकृतिगत कहलाती है तथा भात आदि से नष्ट किया, ऐसा जो विकृतिगत सो हतद्रव्य कहलाता है' तथा कढ़ाई में से निकाल लेने के अनन्तर बचा हुआ ठंडा हुआ जो घी उसमें आटा डालकर हिला कर जो किया जाय सो उत्कृष्ट द्रव्य कहलाता है। ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं।

वरसोला, तिलसांकली, रायण, केरी, द्राखपाणी आदि डोलोया आदि के तेल इन सब को उत्तमद्रव्य कहते हैं अथवा लेपकृत द्रव्य भी कहते हैं। विकृतिकृत, संसृष्ट और उत्तमद्रव्य नीवी में कारण सिवाय खाना नहीं कल्पता, क्योंकि कहा है कि:–

दुर्गति से डरने वाला जो साधु विगई अथवा विकृतिगत को खावे उसको विगई विकृति कारक होने से बलात् दुर्गति में ले जाती है।

मधु तीन प्रकार का है:— कुत्तिक, माक्षिक (मक्खीका) और भ्रामर (भ्रमरी का)। मद्य दो जाति का है :— काष्ट का और पिष्ट का। मांस तीन प्रकार का है:— स्थलचर पशु का, जलचर मत्स्य आदि का और खग–पक्षियों का। मक्खन घी के समान चार प्रकार का है। ये चारों विगई अभक्ष्य हैं।

मन, वचन, काय, मनवचन, मन-तन, वचन-तन वैसे ही मन वचन काया से तीन योग इन सात भंगों को करना, कराना व अनुमोदन करना इन भेदों से गुणा करते इक्कीस भेद होते हैं तथा उनको द्विक - द्विक योग से भूत, भविष्य, वर्तमान काल से गुणा करते एक सौ सैंतालिस १४७ भंग होते हैं।

ये पच्चक्खाण उक्त काल में खुद मन, वचन और काया से पालना चाहिये। जानकार और जानकार के पास में लेने की चौभंगी है। उसमें तीन भंग से प्रत्याख्यान लेने की अनुज्ञा है।

अथवा छः शुद्धि ये हैं:— श्रद्धा, जाणणा, विनय, अनुभाषण, अनुपालन और भावशुद्धि।

प्रतिक्रमण की विधि पूज्य पुरुष इस भांति बता गये हैं।

प्राभातिक प्रतिक्रमण की विधि :—

इरियावही प्रतिक्रमण कर, कुस्वप्न का कायोत्सर्ग कर जिन और मुनि को वन्दन कर स्वाध्याय करना। पश्चात् सव्वस्सवि बोल कर शक्रस्तव बोलना और फिर ज्ञान, दर्शन चारित्र के लिये तीन कायोत्सर्ग करना। उनमें दो में लोगस्स चिंतवन करना और तीसरे में अतिचारों का चिंतवन करना। तदनंतर मुंहपति प्रतिलेखन कर, वन्दना कर, आलोयणा सूत्र बोलना तथा वन्दना और क्षामणा करना।

फिर वन्दना कर तप के लिये कायोत्सर्ग करना। पश्चात् मुंहपत्ति प्रतिलेखन कर, वन्दना करके प्रत्याख्यान करना। तत्पश्चात् इच्छामो अणुसट्ठी बोल, तीन स्तुति बोल कर, वन्दना कर बहुवेल संदिसावी पडिलेहण करना।

रात्रिक प्रतिक्रमण इस प्रकार है:—

जिन और मुनि को वन्दना करके अतिचार शोधनार्थ कायोत्सर्ग करके मुंहपत्ति प्रतिलेखन कर, वन्दना कर, आलोचना ले, प्रतिक्रमण सूत्र बोलना। बाद वन्दना, क्षामणा तथा पुनः वन्दना करके चरणादिक की विशुद्धि के हेतु कायोत्सर्ग करना उसमें दो और एक एक लोगस्स का चिंतवन करना। श्रुतदेवता और क्षेत्रदेवता का एक-एक कायोत्सर्ग करना। मुंहपत्ति पडिलेहण कर वंदना करना तत्पश्चात् तीन थुई बोल कर नमुत्थुणं कह, प्रायश्चित के हेतु कायोत्सर्ग का सूत्र बोलना।

पाक्षिक प्रतिक्रमण विधिः—

मुंहपत्ति प्रतिलेखन कर, वंदना कर, संबुद्धा क्षामण कर, आलोचना कर, वंदना कर प्रत्येक क्षामण दे, वन्दनासूत्र बोल कर, बाद अब्भुट्ठिओ खमाकर, कायोत्सर्ग कर, मुहपत्ति प्रतिलेखन कर, वन्दना कर अन्तिम-समाप्त क्षामण कर चार छोभ वंदना करना।

चातुर्मासिक और संवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि पाक्षिक प्रतिक्रमण के समान ही है। केवल कायोत्सर्ग में विशेषता है यथा:—

दैवसिक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स, रात्रिक प्रतिक्रमण में दो लोगस्स, पाक्षिक प्रतिक्रमण में बारह लोगस्स, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में बीस लोगस्स और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में एक नवकार सहित चालीस लोगस्स का काउस्सग्ग किया जाता है।

सायं संध्या के समय सौ, सुबह को पचास पक्खी में तीन सौ, चौमासी में पांच सौ, और संवत्सरी में एक हजार आठ श्वासोश्वास के प्रमाण से कायोत्सर्ग किया जाता है।

वरुण का वृत्तान्त इस प्रकार है:—

उत्तम चन्दन के वृक्ष जैसे भोगी जन कलित (सर्प युक्त) और सन्ताप (घाम) नाशक होते हैं, वैसे जहां के महल भोगीजन कलित और संताप के नाशक हैं, ऐसा भोगपुर नामक इन्द्रपुर समान नगर था। वहां सर्व नागरिकों से अधिक धनाढ्य नय, संनय, शुभागम में वर्णित विधि वाले निर्मल मार्ग में चलने वाला वरुण नामक महान् इभ्य था। उसको अत्यन्त मनोहर श्रीकान्ता नामक

समय उक्त नगर में एक चरक बहुत कठिन तप तप रहा था। उसे नमन करने को महान् हर्ष पूर्वक सर्व लोकों को जाते देखकर सुलस भी कौतुक वश वहां जाकर उनके पैरों पड़ा। अब कुदृष्टि-राग अवसर देखकर उसके मन में पैठा, जिससे सुलस उक्त चरक को देव, गुरु और पिता समान मानने लगा। वह महा भक्तिवान् होकर, नित्य उसे प्रणाम करने लगा। प्रशंसा करने लगा, और नित्य उसकी सेवा करने लगा, और उतने ही मान से अपने को कृतकृत्य मान कर, अन्य कार्य छोड़ कर उसी में तत्पर हो गया।

अब सदागमनिषिद्ध विधि में पुत्र को तत्पर हुआ देखकर वरुण उस पर करुणा लाकर. उसे इस भांति हितोपदेश देने लगा—रागादि सुभटों को जीतने वाले और देवताओं से सेवित जिनेश्वर ही देव हैं। शक्ति अनुसार जिनभाषित आगम की विधि संपादन करने में तत्पर सो गुरु हैं। हे वत्स! जिसके घर सकल दूषण रहित और समस्त भूषण सहित परम आगम तत्त्व नित्य जानने में आवे, वह मनुष्य अयथार्थदर्शी के बताये हुए पापमय और आगम विधि से विपरीत तत्त्व के अभ्यास में किस प्रकार रंगित हो जावे।

हे वत्स! क्या सरस कमलिनी के पत्र खुलने से उत्पन्न हुई निरंतर सुगंध में मग्न रहने वाली हंसिनी करंब वा नीम के झाड़ पर किसी स्थान में भी बैठेगी? तथा बादलों में से गिरते हुए मोती समान निर्मल जलबिन्दुओं का पान करने वाला चातक क्या भला मैला समुद्र के पानी पीने की इच्छा करता है? वैसे ही बहुत से यथोचित पके हुए फलों से भरे हुए आम्रवृक्ष को देखकर तोता कभी पलाश के वृक्ष की ओर लालायित मन रखेगा क्या? दुस्तप तप करने वाले और समता धारण करने वाले जैन

मुनि के सिवाय अन्य मुनि में कौन ज्ञानी और सद्चित्त मनुष्य अपने मन को लगावे ? तब द्रुपगजेन्द्र के सन्निधान से सुलस इस प्रकार बोला कि–हे पिता ! महात्मा पुरुष की निन्दा करते हुए क्या तुम पातक से भी नहीं डरते हो ? सारे विश्व में भी इन मुनि के समान अन्य कोई मासक्षमण करने वाला और निर्दोष पन से सकल तत्त्व का ज्ञाता है ? हाय हाय ! हे पापी और अभागे ! तू गुणियों की ओर भी राग निवारक मलीन मन धारण करता है तो तेरी जगत् में क्या गति होगी ?

यह सुन अरुणोदय होने पर दीपक के समान वरुण फीका हो कर विचार करने लगा कि, दृष्टिराग के ऐसे भारी विलास को धिक्कार हो। काम राग और स्नेह राग को भव्यजीव रोक सकते हैं किन्तु पापिष्ठ दृष्टिराग तो पंडितों से भी, कठिनता ही से छोड़ा जा सकता है।

अतः या तो यह कलिकाल का विलसित है अथवा अभी कर्म अनुकूलता से पका नहीं, क्योंकि–सद् आगम के अर्थ में भी जब मनुष्य मूढ़ हो जाता है तब उसीकी अपेक्षा रखता है। क्या जो लोग आगम की बुद्धि छोड़कर अन्य स्थल में तत्त्व बुद्धि रखते हैं वे वातकी (वातग्रस्त) होंगे वा पिशाच की (पिशाचग्रस्त) वा उन्मत्त (पागल) होंगे ? जो तीर्थंकर प्रणीत आगम भगवान् न हों तो दुषमाकाल से मतिहीन होते भव्यजनों की जगत् में क्या दशा हो ?

अतः इस अन्यायरत पुत्र से अब क्या काम है, तथा इस धन से भी क्या काम है ? मैं तो संग का त्याग करके श्रीमान आगम ही का अनुसरण करूंगा। यह सोचकर वरुण दीक्षा लेने की इच्छा करता हुआ अपने धन को पात्र में व्यय करने लगा।

उसी समय वहां धर्मवसु नामक मुनिराज का आगमन हुआ। तब सेठ जाकर प्रणाम कर शास्त्रोक्त विधी से यथास्थान पर बैठा। तब उक्त सूरिजी निम्नाङ्कित देशना देने लगे—

यह जीव अव्यवहार राशि में अनन्त पुद्गल परावर्त्त व्यतीत करके जैसे-तैसे व्यवहार राशि में आता है। बादरनिगोद, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वायुकाय में सत्तर (७०) कोटाकोटि सागरोपम उत्कृष्ट कायस्थिति काल है। इन पांच सूक्ष्मों में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश बराबर अवसर्पिणियां जाती हैं। साधारण बादर वनस्पतिकाय में अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण अवसर्पिणियां जाती है।

एकेन्द्रियत्व में आवली के असंख्यातभाग समान पुद्गल परावर्त्त रहता है और उसमें सामान्य वनस्पति रूप निगोद में साढ़े तीन पुद्गल परावर्त्त व्यतीत करता है। गर्भजपंचेन्द्रिय पुरुष वेद में दोसो से नौसो सागरोपम तक रहे और स्त्री वेद में एक सौ दस पल्योपम से अधिक रहे। पंचेन्द्रियत्व में एक हजार सागरोपम से अधिक रहे, नरक और देवता में एक ही भव करे। त्रसत्व में दो सागरोपम और नौ करोड़ पूर्व रहे। मनुष्यत्व में आठ भव करे, वैसे ही समस्त तिर्यंचों में भी उसी प्रकार आयु पूर्ण करे। जघन्य से कायस्थिति सब जगह अंतमुहूर्त प्रमाण है।

पर्याप्ता में संख्याता भव करे, विकलेन्द्रियपने में संख्यात सहस्र वर्ष रहे। वहां गुरु आयुष्य, लघु आयुष्य, अनंतर और तद्भव के भेद से चौभंगी होती है। घर्मा से मघा पर्यंत और भवनपति से सहस्रार देवलोक पर्यन्त नारक और देवों में एकान्तर से चारवार उपपात होता है। उत्कृष्ट आयुष्य वाले जीव सातवीं नरक में दोबार उत्पन्न होते हैं। अच्युत देवलोक से नव में ग्रैवेयक तक तीन वार उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार अनंतकाल भवाटवी में भटकता हुआ और महान् दुःख सहता हुआ जीव महा कठिनता से जाति और कुल मय मनुष्य जन्म पाता है। इसलिये हे भव्यो! तुमने इस समय भव भव के दुःख को नाश करने में समर्थ और मोक्ष सुख का एक-मात्र कारण, ऐसा मनुष्य जन्म पाया है। अतः निष्कलंकपन से चारित्र धर्म पालो।

यह सुन अनन्त दुरन्त संसार के भ्रमण से डरने वाले वरुण ने श्री धर्मवसु मुनिराज से दीक्षा ले ली। वह सदागम के अनु-सार समस्त क्रियाएं करता हुआ निर्मल केवलज्ञान पाकर मोक्ष को पहुँचा।

इधर सुलस को दृष्टिराग बलात् भिन्न-भिन्न लिंगियों की ओर खेंचने लगा जिससे वह मूढ़ होकर उन सब में अति भक्ति रखने लगा। तब प्रथम का कुलिंगी क्रुद्ध होकर विचारने लगा कि–अहो! यह तो कृतघ्न है जिससे मेरी अवहेलना करके दूसरों का दृढ़ भक्त बना है। यह सोचकर उसने सुलस को लक्ष्य कर मंत्र यंत्र के प्रयोग करने के लिये लोहे की सुइयों से बिंधा हुआ दर्भ का पुतला बनाया। तब सुलस सर्व अंगों में होती हुई पीड़ा से व्याकुल होकर, अशुभ ध्यान में मर करके नरक को गया और अभी आगे भी अनन्त संसार में भटकेगा।

इस प्रकार दुष्ट दृष्टिराग की टेव से डरने वाले वरुण का वृत्तान्त सुनकर हे भव्यों! तुम नित्य जिनागम के अनुसार ही सकल प्रवृत्तियां करो।

इस प्रकार वरुण की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में आगमपूर्वक सकल क्रिया करे, यह दशवाँ भेद कहा, अब यथाशक्ति दानादिक का प्रवर्त्तन करे, इस ग्यारहवें भेद की व्याख्या करते हैं।

अनिगूहिंतो सत्तिं आय अबाहाइ जह बहुं कुणइ।
आयरइ तहा सुमई दाणाइ चउव्विहं धम्मं ॥ ७० ॥

मूल का अर्थः—शक्ति गोपन किये विना आत्मा को बाधा न हो, वैसे अधिक कर शके, उस प्रकार सुमतिवान् पुरुष दानादिक चतुर्विध धर्म का आचरण करता है।

टीका का अर्थः—शक्ति याने सामर्थ्य का निगूहन याने गोपन् किये बिना आत्मा को याने अपने को बाधा याने पीड़ा न हो, उस भांति दानादि चतुर्विध धर्म का चन्द्रोदर राजा के समान आचरण करे। किस प्रकार आचरे सो कहते हैं:—जैसे वहु करे अर्थात् कर सके—सारांश यह है कि अधिक श्रीमन्त हो तो अधिक तृष्णा वाला न होवे और थोड़े धन वाला हो तो अत्यंत उदार न हो—अन्यथा सब पूरा हो जाता है—इसी से सूत्र में कहा है कि:—आवक के अनुसार दाता होना आवक के अनुसार खर्च रखने वाला होना और आवक के अनुसार भंडार में स्थापन करने वाला होना चाहिये। जो इस प्रकार करे तो चिरकाल में वहुत दे सकता है। इसी प्रकार शील, तप और भावना में भी समझ लेना चाहिये। इस भांति सुमती अर्थात् पारिणामिक बुद्धि वाला पुरुष दानादिक चतुर्विध धर्म का आचरण करे।

चन्द्रोदर राजा का चरित्र इस प्रकार है।

हाथी के बच्चों के तूफान वाला (उपद्रव रहित) चक्रपुर नामक यहां एक सरस नगर था। उसमें लक्ष्मी से वज्रायुध (इन्द्र)

समान वज्रायुध नामक राजा था। अपने सुन्दर रूप से अमर सुन्दरियों को जीतने वाली सुन्दरी नामक उसकी स्त्री थी और अपनी कांति से सुवर्ण को जीतने वाला चन्द्रोदर नामक उसका पुत्र था। वह राजा एक समय राजेश्वर-कुमार और सुभटों से खचाखच भरे हुए स्थान में बैठा था। इतने में छड़ीदार ने आकर इस प्रकार कहा कि:—

हे देव! आज यहां कौन जाने कहां से एक विशाल शरीर वाला जंगली हाथी आया है। वह प्रलयकाल के मेघ की गंभीर गर्जना के समान शब्द से समस्त दिशाओं के अंत भर डालता है। उसके गंडस्थल रूप झरने से मदजल झरता है। जिससे उठते हुए व पुनः बैठते हुए भंवरों से छाया हुआ वह बाजार व घरों को तोड़ रहा है। वह हाथी महावत को न मानते और संरक्षकों को लेश मात्र भी न गिनते अकाल में कोपे हुए काल के समान नगरजनों को त्रास देने लगा।

तब राजा खिन्न होकर बड़े-बड़े सुभट व सामंतो की ओर देखने लगा किन्तु वे भी सूर्योदय के बाद ग्रहों के समान क्षीण कांतिवाले हो गये तब चन्द्रोदर कुमार किसी प्रकार राजा की आज्ञा लेकर उस हाथी के पास आया। सब लोग विस्मित होकर उसे देखने लगे।

कुमार को सामने आता देख हाथी रुष्ट होकर साक्षात् यम के समान झपटता हुआ कुमार के सन्मुख आया। तब उसे खेलाने का कौतुक करने के लिये राजकुमार ने अपना उत्तरीय वस्त्र कुंडल के आकार में फेंका। तब हाथी ने भी वह वस्त्र लेकर आकाश में उछाला। इतने में चालाकी से कुमार उसकी पीठ पर चढ़ बैठा।

अब वह हाथी क्षण में भूमि पर और क्षण में आकाश में दीखता हुआ कुमार को अपहरण करके थोड़ी ही देर में अदृश्य हो गया। यह देख राजा वज्रायुध ने शीघ्र ही चतुरंग सेना के साथ कुमार का पीछा किया। किन्तु वायु के वेग से हाथी के पद-चिन्ह मिट जाने से राजा लौटकर अपने घर को आ किसी प्रकार दिन विताने लगा।

अव उस हाथी ने कुमार को वैताढ्य पर्वत पर ले जाकर इन्द्रपुर के अधिपति पद्मोत्तर राजा के पास पटका। तव उसने अति संभ्रम से उसे उचित आसन पर बैठाकर स्नेह भरी वाणी से इस प्रकार कहा—

हे कुमार! सत्यवान् सात पुत्रों पर जन्मी हुई भारी रूप-वती शशीलेखा नामक मेरी पुत्री है। उसको यौवन प्राप्त देख-कर कल मैंने ज्योतिषी को पूछा कि इस कन्या का वर कौन होगा? सो कह।

उसने कहा कि—चक्रपुर के राजा चक्रायुध का पुत्र चन्द्रोदर तेरी पुत्री का योग्य वर है। तथा उसने कहा कि—आगामी कल ही को उत्तम लग्न है। तदनन्तर मैंने उक्त ज्योतिषी को सत्कार सन्मान देकर विदा किया। अव इस हाथी रूपधारी विद्या-धर के द्वारा तुझे यहां मंगाया है। इसलिये हे सुप्रसिद्ध गुण-वान राजकुमार! तूं विजयी हो और हमारी इस पुत्री का पाणि-ग्रहण करके हमको निश्चित कर। इस भांति राजा के प्रार्थना करने से कुमार ने शशीलेखा से विवाह किया।

तव राजा ने उसे आकाश गमन आदि विद्याएं दी। अव वह वहां आनन्द मंगल से इच्छानुसार रहने लगा।

तब नागरिक जन सब मंगल त्याग कर [illegible] [illegible] [illegible]
हुए अशरण होकर इधर उधर देखने लगे तथा शून्य मन या
शून्य मुख हो गये। कुलीन [illegible] [illegible] से भागते हुए अनेक
संकल्प विकल्प करके गुनगुन शब्द करने लगे। गांधी अपने
पसारे को कम करने लगे। बजाज अपनी दूकान में के कपड़ों के
ढेर समेटने लगे।

सुनार के लड़के लटकता रखा हुआ सोना चांदी उतार कर
छिपाने लगा। कसारे कांसे के चार फेंकने लगे। जिसमें बाजारों
में ताले लगाये गये। गंठिछोड़ दौड़ने लगे जिससे पोटलियें
दौड़ा दौड़ करने लगे। भय और जल्दी के कारण विह्वल हुए
तथा उडते, पड़ते, यंत्रों से टूटते जरावान वृद्ध वणिकों को तरुण
लोग उठाकर दौड़ने लगे।

हाथियों का झुंड सजाया गया। उत्तम तुर्की घोड़े कसे गये और श्रेष्ठ रथ तैयार किये गये और अच्छे-अच्छे सुभटों को कवच पहिराये गये। पूर्व में जीते हुए लाखों दुश्मनों से दर्प पर चढ़े हुए भाट, चारण, प्रशंसा करने लगे और कायर हंसने लगे। विजय डंका बजने लगा, युद्ध के बाजे बजने लगे और भुवन को भनकार से भरती हुई भेरियां बजाई गई।

सुभट हाथ में तलवारें ले-ले कर हांकते व कूदते हुए उठते हैं, कायर तलवार की खटाखट से डर कर भागते हैं। डरपोक हाथी उन पर पड़ती हुई सख्त गोलियों से, ध्वज के रूप में बांधे हुए मुख वस्त्र से अपने कुंभस्थलों को ढांकते हुए वृक्षों को तोड़-कर भागते हैं। कोट के दरवाजे मजबूत किवाड़ों से बन्द किये जाते हैं और किले पर चारों ओर लाखों यंत्र चढाये जाते हैं।

इस प्रकार हे देव! मलयापुर में गड़बड़ मच रही थी। इतने में संभ्रम से अस्थिर नेत्र वाले राज्य प्रधान पुरुषों द्वारा भक्ति से आराधी हुई कुलदेवी ने हे स्वामिन्! आप महान् पुण्यशाली और पराक्रमी को राजा बनाने की सूचना की है। जिससे हे स्वामिन्! मैं ने आपको हरण किया है। अतः शीघ्र ही वहां पधारने की कृपा करो और इन लोगों को तथा इस राज्य को सनाथ करिये।

इस प्रकार भक्ति से कह कर वह उसे क्षण भर में वहां ले आया, तब प्रधान पुरुषों ने प्रसन्न होकर उसको राज्या-भिषेक किया।

उसके राजा होने पर धूर्त भागने लगे, चोर डरकर छिपने लगे। गांठिछोड़ पकड़े गये, कानतोड़े मारे गये। तथा हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, तथा सामंत, मंत्री और सुभट सब प्रसन्न

होकर क्षण भर में स्वस्थ हो गये। पश्चात् उसने अपने मुख्य मनुष्यों को शीघ्र ही सचिव पद पर नियत किये और पश्चात् वह तीन वर्ग के साधन के साथ राज्य का पालन करने लगा।

अब वहां एक समय भानुसूरि अनेक शिष्यों के साथ पधारे। उनको नमन करने के लिये परिवार सहित राजा वहां आया। वह गुरु को वंदना करके उचित स्थान में बैठा तो गुरु दुंदुभि समान उच्च शब्द से निम्नांकित धर्म समझाने लगे– यहां दान, शील, तप और भावनाओं से चार प्रकार का धर्म कहा है। वह चतुर्गति भवभ्रमणरूप गहन वन को नाश करने में अग्नि समान है।

दान तीन प्रकार का है:—ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपग्रहदान।

ज्ञानदान यह है:—जीव अजीव आदि पदार्थ तथा आलोक तथा परलोक के कर्तव्य जिससे जीव जान सके सो ज्ञान है। वह पांच प्रकार का है। आभिनिवोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यव ज्ञान और पांचवां केवलज्ञान। मतिज्ञान के अट्ठावीस भेद हैं:—उनमें अवग्रहादि चार भेद हैं अवग्रह के दो भेद हैं। मन और चक्षु के अतिरिक्त शेष इंद्रियों से चार प्रकार का व्यंजनावग्रह है। कारण कि–मन और चक्षु अप्राप्तकारी होने से पुद्गल को पकड़ नहीं सकते।

अर्थ का परिच्छेद करने वाला सो अर्थावग्रह है, वह पांच इंद्रियों और मन द्वारा छः प्रकार का है। इसी भांति अपाय और धारणा ये भी प्रत्येक छः प्रकार के हैं। उनमें धारणा का उत्कृष्ट काल असंख्याता और संख्याता है। अर्थावग्रह का एक समय है और शेष का उत्कृष्ट तथा जघन्य अंतमुहूर्त्त ही है।

उन अट्ठावीस भेदों को, बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित और ध्रुव ये छ: प्रकार तथा इन छः के प्रतिपक्षी छः प्रकार मिलकर बारह प्रकार से गिनते तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

भिन्न भिन्न जाति के भिन्न भिन्न शब्दों को पृथक-पृथक पहिचानना सो बहु है। उन प्रत्येक के पुनः स्निग्ध, मधुरादिक अनेक भेद जानना सो बहुविध है। उनको शीघ्र अपने रूप से पहिचानना सो क्षिप्र है। लिंग बिना ही जानना अनिश्रित है। संशय बिना जानना निश्चित है। किसी समय नहीं किन्तु अत्यन्त सदा जानना ध्रुव है।

मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति एक जीव के हिसाब से छासठ सागरोपम है। इतने ही काल के प्रमाण वाला श्रुतज्ञान है। उसके १४ भेद हैं:—अक्षर, संज्ञि, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक, और अंगप्रविष्ट। ये सात भेद और उनके प्रतिपक्षी सात भेद।

सम्यक्त्व परिगृहीत सो सम्यक्श्रुत है। लौकिक सो मिथ्याश्रुत है, तथापि श्रोता की अपेक्षा से लौकिक और लोकोत्तर में सम्यक् और मिथ्यात्व की भजना है।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्ययिक और गुण-प्रत्ययिक। नारक देवों को भवप्रत्ययिक अवधि है। उत्कृष्टपन से तैंतीस सागरोपम और जघन्य से दस हजार वर्ष अवधि का काल है। उसमें अनुगामी याने भवांतर में साथ चलता हुआ अवधिज्ञान और अप्रतिपाति अवधिज्ञान जन्म पर्यंत रहे।

गुणप्रत्यय अवधि दो प्रकार का है:— तिर्यंचों का और मनुष्यों का। वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट छासठ साग-

मनःपर्यव ज्ञानी अढ़ाई अंगुल कम मनुष्यक्षेत्र देखता है, और विपुलमति संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र देखता है। मनःपर्यवज्ञान जघन्य से अंतर्मुहूर्त प्रमाण होता है और उत्कृष्ट देश-कम पूर्व कोटि होता है। जिन के सिवाय किसी-किसी को कभी-कभी अवधिज्ञान के बिना भी मनःपर्यव होता है।

श्रुत केवली, आहारक, ऋजुमति और उपशम श्रेणी वाले जीव पड़े तो पुनः अनंत भव भमते हैं और विपुलमति अप्रतिपाती है।

केवलज्ञान सर्वद्रव्य तथा सर्व पर्याय विषयक होता है। वह नंत शाश्वत और असहाय (स्वतंत्र) होता है। उनके दो भेद हैं:-

भवस्थ और अभवस्थ। भवस्थ केवलज्ञान जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देश-कम पूर्व कोटी होता है। अभवस्थ केवलज्ञान सादि अपर्यवसित है।

सब ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही उत्तम है क्योंकि वह दीपक के समान स्वपरप्रकाशक है और अन्य ज्ञान मूक हैं।

केवलज्ञान भी जो बोलता है वह वचनरूप होने से श्रुत-ज्ञान है। और मूक केवली जानता हुआ भी बोल सकता नहीं। अतः ज्ञान, मोहरूप महा अंधकार की लहरों को संहार करने के लिये सूर्योदय समान है। दीठ, अदीठ इष्ट घटना के संकल्प में कल्पवृक्ष समान है। दुर्जेय कर्मरूप हाथियों की घटा को तोड़ने में सिंह समान है और जीव अजीव रूप वस्तुएं देखने के लिये लोचन समान है।

ज्ञान से पुण्य पाप तथा उसके कारण जानकर जीव पुण्य में प्रवृत्त होता है और पाप से निवृत्त होता है। पुण्य में प्रवृत्त होने से स्वर्ग और मोक्ष सुख प्राप्त होता है और पाप से निवृत्त होने से नरक तिर्यंच के दुःख से मुक्ति होती है।

जो अपूर्व (नया) सीखता है वह दूसरे भव में तीर्थंकरत्व पाता है, तो फिर जो दूसरों को सम्यक् श्रुत सिखाता हो, उसका क्या कहना ?

जो एक दिन में एक पद सीखा जा सकता हो, अथवा पन्द्रह दिन में आधा श्लोक सीखा जाता हो, तो भी ज्ञान सीखने की इच्छा हो तो उद्योग न त्यागना। अज्ञानी प्राणी भी मापतुष के समान ज्ञान में उद्यम करता हुआ, शीघ्र ही केवल पाता है।

तीसरा धर्मोपग्रह दान अर्थात् आरम्भनिवृत्त साधुओं को अशन तथा वस्त्र आदि देना। सुपात्र दान के प्रभाव से जगत्पूज्य तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव वा मांडलिक राजा होते हैं। जैसे कि घृतदान के वल से भगवान ऋषभदेव सकल जगत् के नाथ हुए। वैसे ही मुनि को भक्त देने से भरत भरतक्षेत्र के अधिपति हुए।

मुनीश्वरों के दर्शन मात्र से भी दिवस भर का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है, तो जो उनको दान देता है, वह जगत में क्या नहीं उपार्जन करता? तथा जहां समभावी मुनि विचरते हों, वह भवन सुपवित्र होता है, क्योंकि कदापि साधुओं के विना जिन-धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये गृहस्थ ने उनको भक्तिपूर्वक शुद्ध दान देना चाहिये तथा अपनी शक्ति के अनुसार अनुकंपा-दान तथा उचित दान भी देना चाहिये।

दूसरी वात यह है कि-विषयासक्त गृहस्थों को उत्तम तप वा शील नहीं हो सकता वैसे ही वे सारंभी होने से उनको भावना करने का भी थोड़ा ही योग मिलता है, किन्तु उनको दानधर्म करना तो सदा स्वाधीन है।

इस प्रकार हे नरवर! संक्षेप से तुझे तीनों प्रकार का दान कहा। अव तुझे मुक्तिसुख की लीला देने वाला शील कहता हूँ, सो सुन—

शील अपने कुलरूप नभस्थल में चन्द्रमा समान होकर जगत में कीर्त्तिका प्रकाश करता है, तथा वह सुरनर और शिव के सुख को करता है। अतः सदा शील पालना चाहिये। जाति, कुल, वल, श्रुत, विद्या, विज्ञान तथा वुद्धि से रहित नर भी निर्मल शीलवान होते हैं तो सर्वत्र पूजनीय हो जाते हैं।

तप दो प्रकार का है :—अभ्यंतर और बाह्य। इन प्रत्येक के प्रायश्चित आदि और अनशन आदि छः छः प्रकार हैं। नरक के जीव हज़ारों वर्षों तक जितना कर्म नहीं खपा सकते, उतना कर्म उपवास करने वाला शुभभावी जीव खपा सकता है। तीव्र तपश्चरण करने वाले सिंह समान श्रमण विष्णुकुमार के समान तीर्थ की उन्नति करके कर्म रहित होकर परमपद पाते हैं।

अतः तप करने वाले साधुओं की सर्वत्र भक्ति करना और कर्म को क्षय करने वाला तप स्वतः भी करते रहना चाहिये। शील पालो, दान दो, निर्मल तप करो किन्तु भाव के बिना वे सब गन्ने के फूल समान निष्फल हैं।

शुभभाव की वृद्धि के हेतु संसार समुद्र तारने को नौका समान अनित्यादिक बारह भावनाएँ नित्य करना चाहिये। तर्क रहित विद्या, लक्षणहीन पंडित और भाव रहित धर्म इन तीनों की लोक में हंसी होती है।

पूर्व में कुछ भी सुकृत न करने पर भी मरुदेवी माता के समान शुभ भावना के वश जीव तत्काल निर्वाण पाते हैं।

इस प्रकार धर्म सुनकर चन्द्रोदर राजा ने हर्षित मन से सम्यक्त्व सहित निर्मल गृहीधर्म स्वीकृत किया।

पश्चात् गुरु को प्रणाम करके राजा अपने स्थान को गया, और भव्यों को प्रतिबोधित करने के हेतु गुरु भी अन्य स्थल में विचरने लगे।

राजा ज्ञान पढ़ने लगा, ज्ञानियों को सदैव सहायता करने लगा, सात क्षेत्रों में धनव्यय करने लगा, दीन जनों का उद्धार करने लगा। अपने देश में अमारी पड़ह की घोषणा कराने लगा, उचित शील धारण करने लगा, शक्ति अनुसार तप करने लगा और हृदय में शुभ भावनाएं करने लगा।

अब एक दिन वह राजा माता पिता से मिलने को अत्यन्त उत्कंठित होकर अपना राज्य सम्हला कर चक्रपुर की ओर चला। अब एक विद्याधर आगे जाकर सहसा राजा को चन्द्रोदर कुमार का आगमन कह कह कर बधाई देने लगा। तब पुत्र का आगमन होता जान कर राजा बड़े-बड़े सामन्त, मंत्री और सैन्य के साथ हर्ष से कुमार के सामने आया।

वह पुत्र की महान् ऋद्धि देखकर विस्मित हो कहने लगा कि–अहो ! इस महा पुण्यशाली पुत्र को धन्य है। अब चन्द्रोदर कुमार ने विमान से उतर कर पिता को प्रणाम किया तब उसने भी स्नेह पूर्वक उसका आलिंगन कर लिया। पश्चात् पिता पुत्र सजाये हुए बाजार वाले और दौड़ा दौड़ करते हुए गिर जाते, एकत्रित हुए लोगों के समूह से भरे हुए नगर में हर्ष से प्रवेश करने लगे।

उसे देख सेठ विचार करने लगा कि—अहो ! मैं कैसा सुकृत पुण्य हूँ कि—मेरे घर ये मुनि समय पर भिक्षार्थ आ गये ।

यह तो मारवाड़ की भूमि में कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ, और यह दरिद्री के घर सुवर्ण की वृष्टि हुई है। मातंग के घर यह इन्द्र के हाथी का आगमन हुआ है अथवा अंधकार पूर्ण तिमिस्र गुफा में रत्न दीपक प्रकट हुआ है। यह सोचकर अत्यंत हर्ष से रोमांचित हो उसने उक्त मुनि को दूधपाक वहोराया।

उस पुण्य के प्रभाव से मजबूत भोगफल कर्म उपार्जन करके समयानुसार मर कर देवकुरु क्षेत्र में युगलिया हुआ। वह तीन कोस ऊंचे शरीर वाला होकर अष्टम—भोजी याने तीसरे दिन

भोजन करने वाला और तीन पल्योपम के आयुष्य वाला और उनपचास दिन तक जोडले का पालने वाला हुआ।

दश प्रकार के कल्पवृक्ष ये हैं:— मत्तंग, भृंग, तुडितांग, ज्योति, दीप, चित्रांग, चित्ररस, मणिकांग, गेहाकार और नग्न।

मत्तंगों में सुखपूर्वक पिया जा सके ऐसा मद्य होता है। भृंग में भाजन होते हैं। तुडितांग में निरन्तर अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं। दीपशिख, और ज्योतिशिख प्रकाश करते हैं। चित्रांग में फूल की मालाएं होती हैं। चित्ररस में से भोजन मिलता है। मणिकांग में से दिव्य आभूषण मिलते हैं। भवनवृक्ष भवन रूप में उपयोग में आते हैं और नग्नो में से अनेक प्रकार के वस्त्र मिलते हैं।

इन दश प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण होते सकल भोगों में वह मग्न हो गया था, और उसके पृष्टिकरंड याने पसलियों में दो सौ छप्पन हड्डियों की पृष्टियां (कमानें) थी। वह अल्प-कषायी, ईर्ष्या विवर्जित और रोग रहित रह, मर कर सौधर्म-देवलोक में कुछ कम तीन पल्योपम के आयुष्य से देवता हुआ।

वहां से च्यव कर हे वज्रायुध नरेन्द्र! वह तेरा यह पुत्र हुआ है, और मुनि को दान देने के प्रभाव से उसने इतनी ऋद्धि पाई है।

तथा यह तो किस गिनती में है, किन्तु यह तो इसी भव में मोक्ष को जाने वाला है। यह सुनकर चन्द्रोदर को जाति-स्मरण हुआ।

इस प्रकार पुत्र का चरित्र सुनकर राजा ने अपने छोटे पुत्र गिरिसेन को राज्य में स्थापित कर स्वयं चन्द्रोदर के साथ दीक्षा

हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं ।
सम्मं समायरंतो—न य लज्जइ मुद्धहसिओ वि ॥७१॥

मूल का अर्थ—चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ हितकारी निर्दोष क्रिया पाकर उसका आचरण करता हुआ मुग्ध जनों के हंसने से लज्जित न हो।

टीका का अर्थ—हित याने इसभव तथा परभव में फायदा करने वाला और अनवद्य याने निष्पाप पड़ावश्यक—जिनपूजा आदि क्रिया को सम्यक रीति से अर्थात् गुरु की कही हुई विधि से समाचरता हुआ याने यथारीति सेवन करता हुआ शरमाते नहीं, यह मूल बात है। क्रिया कैसी सो कहते हैं—चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ याने दुःख से प्राप्त हो ऐसी है, उसे पाकर याने प्राप्त करके मुग्ध अज्ञानी लोग हंसे तो भी लज्जित न हो—दत्त के समान।

दत्त की कथा इस प्रकार है।

विश्वपुरी नामक नगरी थी। वह इतनी सुन्दर थी कि-उसे दयिता के समान तरंग रूपी बाहुओं से समुद्र सदा आलिंगन करता था। वहां दुश्मनों का अप्रिय करने वाला प्रियंकर नामक राजा था, तथा वहां अतुल ऋद्धि वाला दत्त नामक सांयात्रिक (जहाजी) वणिक था।

वह एक समय नौका (जहाज) में माल भरकर कंबुद्वीप में आया। वहां बहुतसा द्रव्य उपार्जन करके ज्योंही वह अपने नगर की ओर रवाना हुआ त्योंही प्रतिकूल पवन के सपाटे से उसकी नौका (जहाज) टूट गई। तब वह एक पटिये द्वारा समुद्र पार करके किसी भांति अपने घर आया।

समुद्र में गया हुआ समुद्र ही में से पीछा मिलता है। यह सोचकर वह पुनः घर में जो कुछ था वह जहाज में भर कर रवाना हुआ। पुनः जब वह पीछा फिरा तब दुर्भाग्य वश उसका जहाज टूट गया। तब दुःखी होकर फक्त शरीर लेकर घर आया। इतने पर भी वह पुरुषाकार को न छोडकर पुनः समुद्र यात्रा करने की इच्छा करने लगा किन्तु उसके अत्यंत निर्धन हो जाने से उसे किसी ने पूंजी उधार न दी। तब वह अति विपन्न और खिन्न हुआ, जिससे उसकी भूख तथा नींद जाती रही व वह दीन होकर विचार करता था। इतने में उसे पिता का वचन याद आया।

वह वचन यह था कि-हे पुत्र ! जो किसी भी प्रकार तेरे पास पैसा न हो तो मजबूत मध्य भाग वाले लकड़ी के डब्बे में तांबे के करंडिये के अंदर मेरा रखा हुआ पट्टक (लेख) देखना, और जो कुछ उसमें लिखा है उसे कहीं प्रकाशित मत करना किंतु

उसने एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएं लेकर कहा कि बस मुझे इतने (धन) की आवश्यकता है तब भंडारी ने उसे उतना धन देकर तत्काल विदा किया।

अब उसने तुरंत ही गौतमद्वीप का मार्ग जानने वाले पुरुष बुलाये, नौकर रखे, तथा वहाण तैयार किये। वह पुराने गोबर का खाद्य एकत्रित करने लगा और स्वयं फक्त लंगोट पहिर कर धूल से भरता हुआ खाद्य उपाड़ते भी शरमाया नहीं।

लोग हंसने लगे कि, अहो! दत्त ने कैसा ऊंचा माल खरीदा है? अब तो इसका दारिद्र दूर ही हो जायगा। दूसरे बोलने लगे कि–भला हो उस भले राजा का कि–जिसने ऐसे पुण्यवान वणिक को कर्ज दिया है।

तीसरे बोले कि–यह तो बेचारा पागल है, किन्तु अरे! राजा भी पागल ही जान पड़ता है, कि–जो ऐसे को अपनी पूंजी देता है। ऐसा बोलते हुए धूर्त्त लोग उसे पकड़कर रोकने लगे, तथा करुणा वाले लोग उसे मना करने लगे, तथापि वह तो पट्टक में लिखी हुई बात को साधने ही में तत्पर रहा।

वह गोबर से वहाण भरकर गौतम द्वीप में गया। वहां पट्टक में लिखी हुई बात सिद्ध करके अपने नगर को आया।

अब बहुत से कंडों से भरे हुए उसके वहाण देखकर लोग हंसने लगे कि–यह एक माल से दूसरा माल बड़ा ही अच्छा लाया है। अब उसे दाण (महसूल) लेने वाले लोग राजा के समीप ले गये तब राजा ने पूछा कि– तूं क्या माल लाया है? तब वह बोला—

हे देव ! बहुत से कंडे लाया हूँ तब राजा हंस कर बोला कि तुझे महसूल माफ है। घर जाकर यह माल सम्हाल कर सुख से सुखी हो। हे स्वामिन ! बड़ी कृपा है। यह कह राजा को नमन कर दत्त अपने घर आया और कंडे ठिकाने धरने लगा।

पश्चात् उसने विधिपूर्वक उनको जलाये तो उनमें से उसे उत्तम रत्न मिले। जिससे उसका घर पूर्ववत् लक्ष्मीपूर्ण हो गया।

अब वह किसी समय रत्नों से थाल भरकर राजा के पास गया। राजा ने पूछा कि— ये कहां से प्राप्त किये ? तब उसने अपनी बात कही। तब राजा आदि बोले कि—देखो ! इसकी बुद्धि, गंभीरता और पुण्य इत्यादि अनेक प्रकार से प्रशंसा की।

पश्चात् किसी समय वह सुयश गणधर से जिनधर्म सुनकर अपना धन सुमार्ग में व्यय कर, व्रत ले सुगति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार ऐहलौकिक काम की सिद्धि के लिये यह दृष्टान्त कहा। इसी भांति परलोक के काम की सिद्धि के लिये भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार मुग्ध जनों के हंसने पर अवधीरणा करने वाले दत्त ने पूर्ण लक्ष्मी पाई। अतः निर्दोष धर्म क्रिया करते हे भव्य जनों ! तुम मुग्धों की हंसी की कदापि परवाह न करो।

इस प्रकार दत्त की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में विह्नीक रूप बारहवां भेद कहा। अब अरक्तद्विष्ट रूप तेरहवें भेद की व्याख्या करने को गाथा कहते हैं।

देहट्ठिईनिबंधण- धणसयणाहारगेहमाईसु ।
निवसइ अरत्तदुट्ठो संसारगएसु भावेसु ।। ७२ ।।

मूल का अर्थ—शरीर की स्थिति के कारण धन, स्वजन, आहार, घर आदि सांसारिक पदार्थों में भी अरक्त द्विष्ट हो कर रहे।

टीका का अर्थ—देहस्थिति निबंधन अर्थात् शरीर को सहायक धन, स्वजन, आहार, घर और आदि शब्द से क्षेत्र, कलत्र, वस्त्र, शस्त्र, यान, वाहन आदि संसारगत भाव याने पदार्थों में गृहस्थ अरक्तद्विष्ट के समान होकर रहे। सारांश यह कि- शरीर का निर्वाह करने वाली वस्तुओं में भी ताराचन्द्र राजा के समान भावश्रावक मंद आदरवान होवे और इस भांति विचार करे कि—

कोई स्वजन, शरीर व उपभोग साथ आने वाला नहीं। जीव सब कुछ छोड़कर परभव में जाता है। तथा दुर्विनीत परिजन आदि पर भी अन्तर से विद्वेष न रखना किन्तु ऊपर ही से क्रोध बताना।

ताराचन्द्र राजा की कथा इस प्रकार है।

श्रावस्ती नामक नगरी थी। वह जिनमन्दिर पर स्थित ध्वजा फहराने के मिष से नित्य मानों यह कहती थी, मेरे समान कोई नगरी ही नहीं है। वहां नमते हुए बड़े-बड़े पुरुषों के रत्नों की प्रभा से प्रभासित चरणकमलों वाला आदिवराह नामक सुप्रसिद्ध राजा था। उसका ताराचन्द्र नामक नंदन था। वह गुणरूप तरुओं का नंदनवन समान, उत्तम राजलक्षणधारी और रूप से कामदेव को भी जीतने वाला था।

अब उसकी [illegible] को [illegible] में [illegible] मानकर उसको मारने के लिये भोजन में गुप्त-गुप्त कामण किया। तब उसका शरीर विद्रूप, असार और दुर्गन्धमय हो गया। जिससे अत्यन्त आकुल होकर कुमार मन में सोचने लगा कि—वस्तुतः रोगग्रस्त हो, धनहीन हो या स्वजन सम्बन्धियों से पराभव पावे तब उन्हें मर जाना चाहिये अथवा देशान्तर में चले जाना चाहिये। अतः निज दुर्जनों के हाथ की अंगुलियों से दिखाये जाते बिगड़े हुए शरीर वाले मुझ को भी यहां क्षण भर रहना उचित नहीं। यह सोचकर परिजनों को छोड़कर रात्रि को धीरे से घर से निकलकर वह पूर्व दिशा की ओर चल पड़ा।

वह रोगी की भांति धीरे-धीरे चलता हुआ, क्रमशः समेत-शिखर के पास के एक नगर में आया। पश्चात् वह आकाश के मस्तक पर पहुँचे हुए अति सुन्दर विस्तार से चारों ओर फैले हुए सम्मेतशिखर पर्वत पर धीरे-धीरे चढ़ा। वहां वह हाथ पांव धो, तालाब में से उत्तम कमल लेकर अजितनाथ आदि भगवानों को पूजकर भक्तिपूर्वक उनकी इस भांति स्तुति करने लगा।

अतिशय रक्षण कर्त्ता हे अजितनाथ ! आप जयवान होओ। तथा भवरूप अग्निदाह का शमन करने वाले हे संभवनाथ ! आप जयवान हो ओ। तथा भव्यों के समूह को आनन्द करने वाले हे अभिनन्दन आप जयवान हो ओ और हे सुमति जिनेश्वर ! मुझे आप सुमति दीजिये। रक्त कान्ति वाले हे पद्मप्रभ प्रभु ! आप जयवान हो ओ। जिनकी कीर्ति फैली हुई है ऐसे सुपार्श्वनाथ प्रभु ! आपकी जय हो ओ। चन्द्र के सदृश सुन्दर दांतों से मनोहर लगते हे चन्द्रप्रभु ! आप जयवान हो ओ। तथा हे पुष्पदन्त ! देवाधिदेव ! आप जयवान हो ओ।

शुद्ध चारित्र को पालने वाले हे शीतलनाथ प्रभु !, सुरासुरों से नमित चरणवाले हे श्रेयांसनाथ !, संवत्सरी दान देने वाले हे विमलनाथ !, अनन्तज्ञानवान हे अनंत देव ! आप जयवान हो ओ। शुद्ध धर्म का प्रकाश करने वाले हे धर्मनाथ !, जगत् को शांति करने वाले हे शान्तिनाथ !, मोहरूप मल्ल को हराने वाले हे कुंथुनाथ !, सकल शल्य नाशक हे अरनाथ !, रागादिक दुश्मनों के नाशक हे मल्लिनाथ !, श्रेष्ठ व्रतों को धरने वाले हे मुनिसुव्रत !, सुरेन्द्रों को नमाने वाले हे नमिनाथ ! और मोक्ष मार्ग को बताने वाले हे पार्श्वनाथ ! आप जयवान रहो।

इस प्रकार सुरेन्द्रों से नमे हुए जिनेश्वरों को भक्ति के रस से निर्भर हुए मन से स्तवना कर अत्यन्त पुलकायमान शरीर हो, प्रसन्न होकर दशों दिशाओं की ओर देखने लगा। इतने में शीघ्र ही उसने इस प्रकार देखा।

चन्द्र समान सुन्दर प्रसरित कांति से दीप्तिमान, कुछ नमे हुए शरीर वाले, पग के भार से मानो भूमि को दबाते, नीचे मुख से लंबाये हुए, लंबे हाथों के नखों की किरण रूप रज्जुओं द्वारा

तब कुमार ने पूछा कि-तुम यहां कहां से व किस काम के लिये आये हो? तब विद्याधर बोला कि-हम वैताढ्य पर्वत से इन मुनिवर को नमन करने आये हैं। कुमार ने पूछा कि-ये मुनिवर कौन हैं? विद्याधर ने उत्तर दिया कि—

इस वैताढ्य में बड़े-बड़े विद्याधरों से नमित और सम्पूर्ण दुश्मनों को नमाने वाला घनवाहन नामक राजा था। वही राजा एक समय जन्म, मरण और रोग के कारण रूप इस भयंकर भव से भयभीत होकर चिरकाल से उगी हुई मोहलता को क्षणभर में उखाड़ कर, जीर्णवस्त्र के समान राज्य को छोड़कर उत्साह से दीक्षा ले ली। वही निरन्तर मासक्षमण करते ये मुनिवर हैं। यह कह वे विद्याधर मुनि को प्रणाम करके अपने स्थान को गये।

पश्चात् हर्षित हृदय से कुमार उक्त मुनि की भक्तिपूर्वक इस प्रकार स्तुति करने लगा।

विद्याधरों के वृन्द से वंदित चरणकमल वाले, भवदुःखरूप अग्नि से संतप्त हुए जीवों के ऊपर अमृत की वृष्टि करने वाले, त्रिजगत् को जीतने वाले, कामरूप सुभट के भडवाद को भंग करने में शूर व अति उग्र रोगरूप सर्प का गर्व उतारने में गरुड़ समान हे मुनीन्द्र! आप जयवान रहो।

इस प्रकार मुनीन्द्र की स्तुति करके ज्यों ही वह कुछ विनंती करने को उद्यत हुआ त्योंही कायोत्सर्ग पूर्ण कर वे मुनिश्वर आकाश मार्ग में उड़ गये। तब विस्मित हुआ कुमार जिनेश्वरों को नमन करके पर्वत से उतरा। वह चलते-चलते क्रमशः रत्नपुर नगर में आया।

वहां उसके चिरकाल की गाढ़ प्रीति वाले कुरुचन्द्र नामक बालमित्र ने उसे देखा और झट पहचान लिया। जिससे गाढ़ आलिंगन करके उसने उतावल ही में पूछा कि-हे मित्र! तेरा यहां आना कैसे हुआ? सो आश्चर्य है। तथा श्रावस्ती से निकल कर इतने समय तक तूने कहां भ्रमण किया है? तथा अब तू सुन्दर रूपवान किस प्रकार हो गया है?

तब ताराचन्द्र ने श्रावस्ती से निकलने से लेकर अपना संपूर्ण वृत्तान्त उसे कह सुनाया। पश्चात् कुमार ने भी उसे पूछा कि तू हे कुरुचन्द्र मित्र! अब तेरा वृत्तान्त कह कि- तू कहां किसलिये आया है? और यहां से कहां जावेगा? पिताजी कैसे हैं? सकल राज्यचक्र प्रसन्न है? श्रावस्ती तथा ग्राम, पुर, देश बराबर शान्ति में हैं?

कुरुचन्द्र बोला कि- राजा की आज्ञा से इस रत्नपुर में मैं

अब उक्त मुनीन्द्र को नमन करके राजा उचित स्थान पर बैठे तब गुरु महाराज समुद्र के समान उच्च शब्द से धर्मकथा कहने लगे।

यहां जन्म, जरा रूप पानी वाला अनेक मत्सररूप मच्छ-कच्छप से भरा हुआ, उछलते क्रोधरूप बड़वानल की ज्वाला से दुष्प्रेक्ष्य हुआ, मानरूप पर्वत से दुर्गम्य, मायारूप लता के तन्तुओं से गुथा हुआ, गहरे लोभरूप पातालवाला, मोहरूप चक्करियां वाला, अज्ञानरूप पवन से उड़ती हुई संयोग वियोगरूप विचित्र रंग की तरंगों वाला यह संसाररूप समुद्र है। उसको यदि पार करना

चाहते हो तो, हे भव्यो ! तुम सम्यक-दर्शन रूप दृढ़ पठानवाला शुद्ध भावरूप बड़े-बड़े पटिये वाला, महान् संवर से रोके हुए सकल छिद्रों वाला अति मूल्यवान, वैराग्य मार्ग में लगा हुआ, दुस्तप तपरूप पवन से झपाटे बंध चलता हुआ और सम्यक-ज्ञानरूप कर्णधार वाला चारित्र रूप वहाण पकड़ो।

यह सुन राजा निरवद्य चारित्र ग्रहण करने को तैयार होकर आचार्य को कहने लगा कि-राज्य को स्वस्थ करके हे प्रभु ! मैं आपसे व्रत लूंगा। मुनीन्द्र ने कहा कि-क्षणभर भी प्रतिबन्ध मत करो। तब राजा प्रसन्न होकर अपने घर आया।

पश्चात् वह स्वच्छ मतिमान् राजा सकल मंत्री व सामन्तों को पूछकर ताराचन्द्र कुमार को राज्य में अभिषिक्त करने लगा। इतने में विनय से नम्र हुए शरीर से अंजलि जोड़कर कुमार बोला कि-हे तात ! मुझे भी व्रत ग्रहण करने की आज्ञा देकर अनुग्रह कीजिए। क्योंकि-उच्च दुःखरूप तरंगों वाला यह भयंकर अति दुरंत संसार समुद्र चारित्ररूप वहाण बिना पार नहीं किया जा सकता।

तब राजा ने कहा कि-हे वत्स ! तेरे समान समझदार को ऐसा करना उचित ही है, तथापि अभी कुछ दिन तक वंश परंपरा से आया हुआ राज्य पालन कर, पश्चात् न्याय और पराक्रम शाली पुत्र को राज्य सौंप कर, फिर कल्याणरूप लता बढ़ाने को पानी की पनाल समान दीक्षा ग्रहण करना। यह कह कर बलात् उसे राज्य में स्थापित कर, राजा श्री विजयसेन सूरि से दीक्षा लेकर देवलोक में गया।

अब ताराचन्द्र राजा सदैव व्रत लेने के परिणाम वाला रहकर, प्रतिसमय अधिकाधिक मनोरथ करने लगा। वह जिन मन्दिर

इस भांति चन्द्र की कान्ति समान चमकते हुए यशवाले ताराचन्द्र महाराजा का चरित्र हर्ष से सुनकर स्वजन, धन, और गृह आदि में अरक्तद्विष्ट रहकर, शिवसुख दाता शुद्ध चारित्र में स्पष्टतः मन धारण करो।

इस प्रकार ताराचन्द्र की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में अरक्तद्विष्टरूप तेरहवां भेद कहा। अब मध्यस्थरूप चौदहवें भेद की व्याख्या करने के हेतु कहते हैं :-

उवसमसारवियारो बाहिज्जइ नेव रागदोसेहिं।
मज्झत्थो हियकामी असग्गहं सव्वहा चयइ॥ ७२॥

मूल का अर्थ—उपशम से भरे हुए विचारवाला हो, क्योंकि-वह रागद्वेष में फंसा हुआ नहीं होता, अतः हितार्थी पुरुष मध्यस्थ रहकर सर्वथा असद् ग्रह का त्याग करे।

टीका का अर्थ—उपशम याने कषायों को दबा रखना, इस रीति से जो धर्मादिक का स्वरूप विचारे सो उपशमसार विचार कहलाता है। अब ऐसा किस प्रकार होता सो कहते है :-क्योंकि वह विचार करता हुआ रागद्वेष से अभिभूत नहीं होता। जैसे कि-मैं ने बहुत से लोगों के समक्ष यह पक्ष स्वीकार किया है और अनेकों लोगों ने इसे प्रमाणित माना है। अतः अब स्वतः माने हुए को किस प्रकार अप्रमाणित करूं, यह विचार कर स्वपक्ष के अनुराग में नहीं पड़े।

जिससे "यह मेरा दुश्मन है, क्योंकि-यह मेरे पक्ष का दूषक है। अतः इसे बहुत से लोगों में नीचा दिखाऊं"। यह सोचकर भले बुरे दूषण खोलना, गाली देना आदि प्रवृत्ति के हेतुरूप द्वेष से भी अभिभूत नहीं होता-किन्तु मध्यस्थ याने सर्वत्र समान मन रखकर हितकामी याने स्वपर के उपकार को चाहता हुआ असद् ग्रह याने असद् अभिनिवेश को सब प्रकार से मध्यस्थ और गीतार्थ गुरु के वचन से प्रदेशी महाराज के समान छोड़ देता है।

प्रदेशी राजा का चरित्र इस प्रकार है :—

जहां के आराम (बगीचे) सच्छाय (सुन्दर छाया युक्त) सुवयस (सुन्दर पक्षियों युक्त) और वरारोह (ऊंचे झाड़ वाले) हैं और जहां की रामा (स्त्रियां) सच्छाय (सुन्दर कान्तिवान्) सुवयस (सुन्दर वय वाली) और वरारोह (सुन्दर शरीर वाली) हैं।

बोले कि–पहिले देवलोक में सूर्याभ नामक विमान का यह सूर्याभ–देव है। इसने पूर्वभव में यह सुकृत किया है।

जैसे विष्णु की मूर्ति श्री परिकलित, रामाभिनंदिनी (बलराम से शोभायमान) और गदान्वित (गदा अयुध सहित) होती है। वैसे ही श्री परिकलित (आबाद) रामाभिनंदिनी (रमती स्त्रियों से शोभायमान), तथापि गद रहित (रोग रहित) श्वेतविका नाम नगरी थी।

वहां दुश्मनों को देश प्रवास कराने वाला प्रदेशी नामक चार्वाक मत में चतुर राजा था। उसको लावण्य से रम्यरूपवाली सूर्यकान्ता नामक सत्कान्ता थी और अपने तेज से सूर्य को जीतने वाला सूर्यकान्त नामक पुत्र था। तथा अपनी बुद्धि से वृहस्पति को जीतने वाला चित्र नामक उसका मंत्री था। वह राजा के मन रूपी मानस में राजहंस के समान सदैव वसता था। उसको राजा ने एक समय भेट देकर श्रावस्तीपुरी में जिनशत्रु राजा के पास राजकार्य साधने के हेतु भेजा।

वहां वह भेट देकर सब काम शीघ्र ही कर लेता था क्योंकि–बुद्धिमान पुरुष शीघ्र विधायी (जल्दी काम करने वाले) होते हैं। वहां उद्यान में चित्र मंत्री ने उज्वल चरित्रवान्, चौदहपूर्वधारी, चतुर्ज्ञानी पार्श्वनाथ के संतानीय (केशिकुमार को देखे)।

पांच आचार के विचार प्रपंचरूप सिंह के रहने के वन समान दुर्मथ मन्मथ के मथने वाले, शिव-पथ के रथ समान, निर्मल गुण-युक्त, यति की श्रेणी से परिवारित, केशि नामक प्रथित हुए कुमार श्रमण आचार्य को देखकर, नमन करके इस भांति धर्म श्रवण करने लगा–

हे भव्यो! चोल्लक पाशक आदि दृष्टान्तों से दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर तुम आदर पूर्वक सकल सुख के हेतु धर्म ही को करते रहो।

यह सुनकर उक्त चालाक मंत्री ने केशिकुमार से सम्यक्त्व-मूल श्रावक-धर्म अंगीकृत किया और कहने लगा कि, हे पूज्य. आप जो विहार संयोग से श्वेतविका में पधारें, तो वहां आप पूज्य पुरुष की उत्तम देशना सुनकर व किसी प्रकार हमारा स्वामी प्रदेशी राजा धर्म प्राप्त करे तो अत्युत्तम हो। तब केशि गणधर बोले कि- वह तो चंड, निष्करुण, निर्धर्मी, पाप कर्म में मन रखने वाला, इसी लोक में लिप्त, परलोक से पराङ्मुख और क्रूर है।

अतएव हे मंत्री! तू तेरी बुद्धि से विचार कर कि—उसे किस प्रकार प्रतिबोध हो सकेगा? तब पुनः मंत्री बोला कि—हे मुनीश्वर! आपको कहां यह अकेले ही का कार्य है? वहां बहुत से दूसरे भी सेठ, सरदार, तलवर आदि रहते हैं। जो सुसाधुओं को वसति, पीठ, फलक आदि देते रहते हैं। और सदैव उनका सत्कार सन्मान करते हैं। अतः उन पर आपने कृपा करना चाहिये। तब गुरु बोले कि—हे मंत्रिन्! समय पर ध्यान दूंगा।

वह जो मेरे समान मंत्री मिलने पर भी नरक में जावेगा तो हाय हाय ! मेरी बुद्धि की क्या चतुराई होगी ? अतः किसी भी प्रकार से इसे गुरु के पास ले जाऊं। यह विचार कर वह घोड़े फिराने के बहाने से राजा को उद्यान में ले गया। अब राजा दुर्दम घोड़े के तीव्र दमन से थक गया।

तब चित्र ने प्रदेशी राजा को विश्रान्ति लेने के लिये वहां बैठाया। जहां कि–समीप ही केशि गुरु विस्तृत सभा में जिन-धर्म समझाते थे। अब सूरि को देख कर राजा चित्र मंत्री को कहने लगा कि–यह मुंड उच्च स्वर से क्या चिल्लाता है ? मंत्री बोला कि– मैं भी कुछ नहीं जानता। अतएव समीप चलकर सुनें तो अपना क्या जाता है ?

इस पर से राजा सुगुरु के पास आया। तब उसे प्रतिबोधित करने में कुशल मतिमान् गुरु बोले कि–हे जनों ! तुम परमार्थ में शत्रु समान समस्त प्रमाद को छोड़कर परमार्थ में पथ्य समान धर्म करो।

तब राजा बोला कि–तुम्हारा वचन मेरे मन को अधिक प्रसन्न नहीं करता क्योंकि– पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से पृथक् कोई अन्य परलोक में जाने वाला जीव है ही नहीं। वह इस प्रकार कि-जीव है ही नहीं, क्योंकि–वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता। गधे के सींग के समान. जो वैसा नहीं सो चार भूत के समान यहां प्रत्यक्ष दीखता है।

गुरु बोले कि–हे भद्र ! क्या यह जीव तेरे देखने में आता ही नहीं है इससे नहीं है ? वा सब के देखने में नहीं आता है सो नहीं है ?। इसमें प्रथम पक्ष कुछ योग्य नहीं है। क्योंकि–वैसा हो

तो देश, काल, स्वभाव तथा सूक्ष्मत्व आदि के कारण दूरस्थ भूमि पर्वत आदि पदार्थों को तू नहीं दीखता होने से उनका अभाव सिद्ध होगा।

दूसरा पक्ष भी जीव को तोड़ने में समर्थ नहीं। कारण कि-सर्व जनों के प्रत्यक्ष तुझे कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं है। तथा यह चैतन्य भूतों का स्वभाव है कि कार्य है?। स्वभाव तो है ही नहीं, क्योंकि-वे स्वयं अचेतन है। वह कार्य भी नहीं क्योंकि-उनके वे कार्य हों, तो अलग-अलग का हो कि एकत्रित मिले हुए का हो?। प्रथम पक्ष में तो अलग-अलग उनमें चैतन्य दीखता ही नहीं, यह दोष आवेगा।

अब पिष्टादिक में से जैसे मद पैदा होता है, वैसे ही भूत एकत्रित होने से उनमें से चैतन्य पैदा होता है। इसी भांति दूसरा पक्ष लिया जाय तो, वह भी ठीक नहीं क्योंकि-जो जिनमें के पृथक्-पृथक् में नहीं होता सो उनके एकत्र होते भी उनमें से नहीं होता। रेती के कण में नहीं दीखने वाला तैल क्या उसके अधिक कण एकत्रित करने से पैदा हो सकेंगे?

पिष्टादिक में से मद पैदा होता है, वहां उसके अंगों में मात्रा से मदशक्ति स्थित ही है, और जो सर्वथा असत् हो उसकी खरशृंग की भांति उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। तथा मैंने छुआ, सुना, सूंघा, खाया, स्मरण किया, और देखा, इस प्रकार एक कर्त्ता वाली प्रतीति भूतात्मवाद में किस प्रकार हो सकती है?।

जो परलोक में जाने वाला जीव न हो, तो कर्म का सम्बन्ध किसको होवे? और नहीं होवे तो फिर पदार्थों की यह विचित्रता किस प्रकार युक्त मानी जा सकती है?

राजा और रंक, पंडित और जड़, सुरूप और कुरूप, श्रीमन्त और दरिद्र, बलवान और दुर्बल, निरोगी और रोगी, सुभग और दुर्भग इन सबका मनुष्यत्व समान होते जो अन्तर दीखता है, सो कर्म के कारण से है और कर्म जीव बिना युक्तिमत् नहीं होते।

इसलिये हे राजन्! अपने शरीर में "मैं सुखी हूँ" इत्यादि जो प्रतीति होती है उसके द्वारा जान पड़ता है कि जीव कर्त्ता, भोक्ता और परलोकगामी सिद्ध होता है। अब अपने शरीर में जैसे ज्ञानपूर्वक प्रत्येक विशिष्ट चेष्टा होती देखने में आती है। वैसे ही दूसरे के शरीर में भी बुद्धिमान जनों ने अपनी बुद्धि से अनुमान से उसकी सिद्धि कर लेना चाहिये।

अब राजा बोला कि-जो परभवगामी जीव हो तो मेरे पिता जीवहिंसा आदि पाप करने में निमग्न रहने वाले थे। वे आपके मत से नरक में गये होंगे। तब वे यहां आकर मुझे क्यों नहीं समझाते कि-हे पुत्र! यह दुःखदायी पाप मत कर। इसलिये यहां जीव परभव को जाता है यह बात किस प्रकार युक्ति की अनी पर लागू पड़ सकती है? तब बुद्धिबल से बृहस्पति को जीतने वाले गुरु बोले :—

जैसे किसी महान् अपराध में कोई मनुष्य कैद में डाला जावे, तो फिर वह पहरेदारों के आधीन रहकर अपने स्वजनों को देख भी नहीं सकता। वैसे ही अपने दारुणकर्म की शृंखला से निगडित हुआ नारक जीव, परमाधार्मिक देवों के आधीन रहने से यहां नहीं आ सकता।

पुनः राजा बोला कि, मेरी माता मेरी ओर सदैव वत्सल (प्रीतिवान्) थी। वह सामायिक व पौषध आदि धर्म के कार्यों में

तो देश, काल, स्वभाव तथा सूक्ष्मत्व आदि के कारण दूरस्थ भूमि पर्वत आदि पदार्थों को तूं नहीं दीखता होने से उनका अभाव सिद्ध होगा।

दूसरा पक्ष भी जीव को तोड़ने में समर्थ नहीं। कारण कि- सर्व जनों के प्रत्यक्ष तुझे कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं है। तथा यह चैतन्य भूतों का स्वभाव है कि कार्य है ?। स्वभाव तो है ही नहीं, क्योंकि- वे स्वयं अचेतन है। वह कार्य भी नहीं क्योंकि-उनके वे कार्य हों, तो अलग-अलग का हो कि एकत्रित मिले हुए का हो ? । प्रथम पक्ष में तो अलग-अलग उनमें चैतन्य दीखता ही नहीं, यह दोष आवेगा।

अव पिष्टादिक में से जैसे मद पैदा होता है, वैसे ही भूत एकत्रित होने से उनमें से चैतन्य पैदा होता है। इसी भांति दूसरा पक्ष लिया जाय तो, वह भी ठीक नहीं क्योंकि-जो जिनमें के पृथक्-पृथक् में नहीं होता सो उनके एकत्र होते भी उनमें से नहीं होता। रेती के कण में नहीं दीखने वाला तैल क्या उसके अधिक कण एकत्रित करने से पैदा हो सकेंगे ?

पिष्टादिक में से मद पैदा होता है, वहां उसके अंगों में मात्रा से मदशक्ति स्थित ही है, और जो सर्वथा असत् हो उसकी खरशृंग की भांति उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। तथा मैंने छुआ, सुना, सूंघा, खाया, स्मरण किया, और देखा, इस प्रकार एक कर्त्ता वाली प्रतीति भूतात्मवाद में किस प्रकार हो सकती है ? ।

जो परलोक में जाने वाला जीव न हो, तो कर्म का सम्बन्ध किसको होवे ? और नहीं होवे तो फिर पदार्थों की यह विचित्रता किस प्रकार [illegible]

राजा और रंक, पंडित और जड़, सुरूप और कुरूप, श्रीमन्त और दरिद्र, वलवान और दुर्वल, निरोगी और रोगी, सुभग और दुर्भग इन सबका मनुष्यत्व समान होते जो अन्तर दीखता है, सो कर्म के कारण से है और कर्म जीव विना युक्तिमत् नहीं होते।

इसलिये हे राजन्! अपने शरीर में "मैं सुखी हूँ" इत्यादि जो प्रतीति होती है उसके द्वारा जान पड़ता है कि जीव कर्त्ता, भोक्ता और परलोकगामी सिद्ध होता है। अब अपने शरीर में जैसे ज्ञानपूर्वक प्रत्येक विशिष्ट चेष्टा होती देखने में आती है। वैसे ही दूसरे के शरीर में भी वुद्धिमान जनों ने अपनी वुद्धि से अनुमान से उसकी सिद्धि कर लेना चाहिये।

अब राजा बोला कि—जो परभवगामी जीव हो तो मेरे पिता जीवहिंसा आदि पाप करने में निमग्न रहने वाले थे। वे आपके मत से नरक में गये होंगे। तब वे यहां आकर मुझे क्यों नहीं समझाते कि—हे पुत्र! यह दुःखदायी पाप मत कर। इसलिये यहां जीव परभव को जाता है यह बात किस प्रकार युक्ति की अनी पर लागू पड़ सकती है? तब वुद्धिबल से वृहस्पति को जीतने वाले गुरु बोले :—

जैसे किसी महान् अपराध में कोई मनुष्य कैद में डाला जावे, तो फिर वह पहरेदारों के आधीन रहकर अपने स्वजनों को देख भी नहीं सकता। वैसे ही अपने दारुणकर्म की शृंखला से निगडित हुआ नारक जीव, परमाधार्मिक देवों के आधीन रहने से यहां नहीं आ सकता।

पुनः राजा बोला कि, मेरी माता मेरी ओर सदैव वत्सल (प्रीतिवान्) थी। वह सामायिक व पौषध आदि धर्म के कार्यों में

ध्यान रखती थी। यह आपके अभिप्राय के अनुसार स्वर्ग को गई है, तो वह किसी भी वहां आकर तेरे सन्मुख नहीं कहती कि— यहां और परभव में सुख करने वाले धर्म को तू कर। अतः जीव का परभव को जाने का ध्यान किस भांति संगत हो सकता है? तब अमृतवृष्टि समान वाणी से सूरि बोले :—

देवों ने अपना कर्तव्य अभी पूरा नहीं किया होगा? जिससे तथा दिव्य प्रेम में निमग्न हो जाने से तथा विषय में आसक्त हो जाने से तथा मनुष्य के काम के अवश रहने से तथा मृत्युलोक की अशुभता से इत्यादि कारणों से जिनके जन्मादिक कल्याणक, तथा महामुनि के तप की महिमा व समवसरण आदि प्रसंगों के बिना वे यहां प्रायः नहीं आते।

राजा पुनः बोला कि, मैं ने एक वक्त एक चोर पकड़ कर उसके अति सूक्ष्म टुकड़े करके देखा, किन्तु उसमें आत्मा कहीं भी नहीं दृष्टि में आई। अतः भूत से पृथक आत्मा को मैं अपने मन में कैसे मान सकता हूँ? अब छः तर्क दर्शन के कर्कश विचार में कुशल गुरु बोले:—

अग्नि का इच्छुक कोई मनुष्य विकट वन-वन में भटकता हुआ वहां अरणी का काष्ट पाकर, मंदमति होने से उसके टुकड़े करने लगा, किन्तु वहां उसे अग्नि का कण भी देखने में न आया। इतने में कोई महामतिमान् पुरुष वहां आया। उसने उसे शर के साथ घिसकर आग उत्पन्न की। इस प्रकार अग्नि मूर्त होते भी उसका वहां ग्रहण नहीं होता, तो फिर अमूर्त जीव इस भांति न दीखे तो कौनसा दोष है?

राजा पुनः बोला कि— मैंने एक जीवित चोर को लोहे के संदूक में डाला व उस संदूक को मोम से [illegible]

पश्चात् जब वह संदूक खोला तो उसमें उसका शरीर कृमियों से भरा हुआ देखा। अतः जबकि उसमें छेद नहीं था तो उसमें से उसकी आत्मा कैसे निकल गई। तथा उसके अन्दर उक्त अनेक कृमि किस भांति घुसे होंगे? अतः आत्मा परभव को जाती है यह बात लंबे विचार में किस प्रकार टिक सकती है?

अब करुणा जल के समुद्र गुरु बोलेः—यहां किसी नगर में कोई शंख बजाने वाला रहता था। उसके पास ऐसी लब्धि थी कि—वह चाहे जंगल में जाकर शंख बजाता तो भी लोग ऐसा मानते थे कि—मानो वह कान के समीप ही बजाता हो।

वहां का राजा एक समय संडास में गया। इतने में वह शंख का शब्द सुनकर शंका से आकुल हुआ, जिससे उसको बड़ी-नीति न हुई। उससे उसने उस शंख बजाने वाले को मारने की आज्ञा दी। तब वह बोला कि–हे नाथ! यह तो मेरी लब्धि है, कि–दूर से शब्द होने पर भी ऐसा लगता है मानो कान के पास में होता हो। ऐसा कैसे हो सकता है? यह परीक्षा करने के हेतु राजा ने उसे लोहे की कोठी में डाला व बाद में उसे मोम लगा-कर बन्द किया।

अब उसने शंख बजाया तो सारी सभा बहरी हो गई। तब उसमें छेद आदि देखे गये पर कहीं न दीखे। तथा लोहे के पिंड में अन्दर जो विवर न हो तो उसमें अग्नि के परमाणु कैसे प्रवेश करें कि–जिससे वह जलती हुई अग्नि के गोले के समान दीखता है? इस भांति जबकि मूर्त्त शब्दादि को भी जाते आते रुकावट नहीं होती तो फिर अमूर्त्त जीव को न हो इसमें कौनसा दोष है?

पुनः राजा बोला कि-मैंने एक जीवित चोर को तौलकर देखा बाद वह मर गया। तब तौला किन्तु उसके तौल में कुछ भी अंतर न हुआ। अब जो आत्मारूप कोई पदार्थ हो तो तौल में कुछ अधिकता दीखना चाहिये अतएव अभी भी यह बात शंकायुक्त है कि आत्मा परभव-गामी है।

अब संशय रूप पिशाच वृक्षों को गिराने में तीक्ष्ण कुल्हाड़े समान गुरु बोले कि-किसी ग्वाल ने कौतुकवश पवन से मशक भरी बाद उसे तौली। इसके अनन्तर उस महा कौतुकी ने खाली करके तौली तो कुछ भी तौल अधिक नहीं जान पड़ा। इस प्रकार जबकि स्पर्श होने से जान पड़ते मूर्त्त वायु में भी तौल में विशेष नहीं दीखता, तब अमूर्त्त आत्मा में कहां से हो।

इस अवसर पर राजा प्रबोध पाकर हर्षित हृदय से और भक्तिपूर्ण अंग से अंजली जोड़कर, इस भांति बोला:—

हे भगवन् ! आपके वचनरूप मंत्र से मेरा मोह पिशाच भाग गया है, किन्तु वंशपरंपरागत नास्तिकवाद को मैं किस प्रकार छोड़ूं ?

केशि गुरु बोले कि—हे नरनाथ ! विवेक हो तो इसमें कुछ भी नहीं है। वंशपरम्परा से मानी हुई व्याधि वा दारिद्र क्या छोड़ने में नहीं आते ?। तथा हेयोपादेय के विचार की चतुराई को समझने वाले हे राजन् ! इस विषय में एक दृष्टान्त है। उसे सावधान मन रख कर भलीभांति सुन।

पूर्व में कितनेक वणिक धनोपार्जन करने के हेतु परदेश को गये। वहां लोहे की खानि में आये, तो उन्होंने वह मंहगा लोहा भारी जत्थे में उठाया। अब साथ के कारण वे आगे चले तो उन्हे कलाई की खानि मिली, तब जो बुद्धिमान थे, उन्होंने लोहा

छोड़कर उसके बदले में कलाई उठाई। और जो मूर्ख थे उन्होंने विचार किया कि–लोहा स्वयं उठाया था अतः कैसा छोड़ा जाय यह सोच उसे पकड़ रखा। खेद है कि–कलई न ले सके।

इस भांति क्रमशः और और खानों में बुद्धिमानों ने चांदी व फिर सोना उठाया, किन्तु जो मूर्ख थे उन्होंने प्रथम उठाया हुआ माल नहीं छोड़ा। अब वे जैसे वैसे रत्न की खानि में आ पहुंचे। वहां कितनेक मार्गानुसारिणी बुद्धिवाले व हेयोपादेय करने में चतुर मनुष्यों ने सोने को भी छोड़कर अत्यंत गुणवान, निर्मल और त्रासादिक दोष से रहित रत्न ग्रहण किये। किन्तु दूसरों ने साथियों के सलाह देने पर भी कदाभिनिवेश–वश पूर्व में लिये हुए लोहे को छोड़कर रत्न नहीं उठाये। अब वे दोनों अपने देश में आये। वहां रत्न उठाने वालों ने सुख, यश और प्रचुर लक्ष्मी पाई।

किन्तु जिन्होंने कदाग्रही होकर पूर्व उठाया हुआ नहीं छोड़ा वे पश्चाताप पाकर सदैव दुःखी रहे। अतएव उनके समान हे राजन्! तूं भी इस क्रमागत नास्तिक मत को न छोड़कर पीछे से अतिशय पश्चाताप मत करना।

यह सुन मिथ्यात्व छोड़कर राजा ने केशि गुरु से सम्यक्त्व के साथ गृहिधर्म स्वीकार किया। अब केशि गणधर कोमलवाणी से राजा को कहने लगे कि–हे राजन्! तूं पहिले यथोचित दान देने में रम्य होकर पीछे से उसे बंद करके अरम्य मत होना क्योंकि–इससे हमको अंतराय दोष लगता है तथा शासन की निन्दा होती है।

तब प्रदेशी राजा केशि गणधर के उक्त वाक्य को परम विनय से अंगीकार करके अपने पूर्वकृत उलटे सीधे भाषण आदि अप-

राध खमा, हर्षित होकर घर आया और केशि गणधर अन्यत्र विचरने लगे। पश्चात् चित्र मंत्री की सलाह से प्रदेशी राजा ने अपने देश को जिन मन्दिरों की श्रेणी से विराजित किया। तथा सामायिक, पौषध आदि धर्म कृत्यों में सदैव लीन रहकर, दूसरे भी अनेक लोगों को जैन-धर्म में प्रवृत्त करने लगा।

वह विषय सुख को विष समान जानकर स्त्री संग से दूर रहता था। जिससे दुर्धर-काम से पीड़ित हो उसकी रानी सूर्य-कान्ता मन में विचार करने लगी। यह राजा स्वयं भोग नहीं भोगता और मुझे अपने वश में रखता है, अतः यह कहावत सत्य है कि-न मरता है न छोड़ता है। इसलिये इसको कोई भी विष आदि उपाय से मार डालूं तो पुत्र को राज्य पर बिठाकर, मैं अपनी इच्छानुसार भोग विलास कर सकूंगी।

दूसरे दिन सूर्यकान्ता ने पौषध के पारणे महाराजा के भोजन में विषम विष मिलाकर खिलाया। जिससे राजा के शरीर में असह्य जलन होने लगी, तब उसे ज्ञात हुआ कि-सूर्यकान्ता ने यह विष दिया है। अब वह मरने का समय आया जान, अणुव्रतों का पुनः उच्चारण कर अपने को समझाने लगा कि-हे आत्मन्! सर्व सत्वों से मित्रता कर। तथा तूं किसी पर भी रोष मत कर व सूर्यकान्ता पर तो कदापि रोष मत कर, क्योंकि-यह कार्य करके उसने तुझे दुःख देने वाली स्नेह की बेड़ी तोड़ी है।

हे जीव! जो अवश्य वेदनीय कर्म नरकादिक में लाखों दुःख देने वाला हो जाता उसे यहीं क्षपवाने वाली, यह तेरी उपकारक है। हे आत्मन्! जो इस पर भी कोप करेगा तो तूं कृतघ्नियों का प्रमुख गिना जावेगा। तथा इस अनन्तसंसार में

नरकादिक के भवों में हे जीव ! तूं ने अनन्त वार जो अतिशय कड़वे दुःख सहे हैं, उनकी अपेक्षा से यह दुःख किस गिनती में है ? यह विचार कर धीरज धर अपने किये हुए कर्म के इन समस्त घोर विपाकों को सहन कर।

इस भांति समाधि से वह निश्चल मन से पंच परमेष्टि मंत्र तथा श्री केशि गुरु के सत्प्रसाद तथा उज्वल गुणों को स्मरण करता हुआ मर कर सौधर्म-देवलोक के तिलक समान सूर्याभ-विमान में सूर्याभ नामक श्रेष्ठ देव हुआ। वहां वह चार पल्योपम तक विपुल सुख भोग कर, वहां से च्यव करके महाविदेह में मुक्ति पावेगा।

इस प्रकार प्रदेशी राजा का चरित्र सुन गौतम ने प्रसन्न होकर प्रभु को प्रणाम किया और तत्पश्चात् प्रभु अन्यत्र विचरने लगे।

इस भांति प्रदेशी राजा का प्रसिद्ध दृष्टान्त जो कि चतुर मनुष्यों के कानों को अमृत समान पोषण देता है, उसे दोनों कानों से वरावर सुनकर हे मोहाकुल जनों ! तुम कदाग्रह को छोड़कर धर्म विचार में नित्य प्रयत्न पूर्वक मध्यस्थपन धारण करो।

इस प्रकार प्रदेशी महाराजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में मध्यस्थ रूप चौदहवां भेद कहा। अव असंवद्ध रूप पंद्रहवें भेद का निरूपण करते हैं।

भावंतो अणवरयं खणभंगुरयं समत्थवत्थूण।
संवद्धोवि धणाइसु वज्जइ पडिवंधसंवंधं ॥ ७४ ॥

मूल का अर्थ—समस्त वस्तुएं क्षणभंगुर हैं। ऐसा निरंतर सोचता हुआ धन आदि में संवद्ध (लगा हुआ) होते भी प्रतिवंध का त्याग ... ।

टीका का अर्थ—भावना करता हुआ याने विचारता हुआ अनवरत-प्रतिक्षण, समस्त वस्तु याने तन, धन, स्वजन, यौवन, जीवित आदि सर्व भावों की क्षणभंगुरता याने निरन्तर विनश्वरता को विचारता हुआ बाहिर से प्रतिपालन वर्द्धन आदि करता रह कर संबद्ध याने जुड़ा हुआ होते भी धन स्वजन हाथी घोड़े आदि में प्रतिबंध याने मूर्छा रूप संबंध न करे। नरसुन्दर राजा के समान। क्योंकि-भावश्रावक हो, तो इस प्रकार विचारता है। द्विपद, चतुष्पद क्षेत्र, गृह, धन, धान्य, ये सब छोड़कर एक कर्म के साथ परवश हुआ जीव सुन्दर वा असुन्दर भव में भटकता रहता है।

नरसुन्दर राजा की कथा इस प्रकार है।

उदय, सत्ता और बंधवाली कर्मग्रंथ की वृत्ति के समान प्रकटित उदयवाली (आबाद) बहुविधि सत्ववाली (अनेक प्रकार के प्राणियों वाली), तथापि बंध रहित ताम्रलिप्ती नामक नगरी थी। वहां सम्यक् रीति से परिणत जिन समयरूप अमृत रस से विषय रूप विष के बल को नष्ट करने वाला और गृहवास में शिथिल मनवाला नरसुन्दर नामक राजा था। उसकी अति लावण्य और रूपवाली बंधुमती नामक बहिन थी उसका विवाह उज्जयिनी के राजा अवन्तिनाथ के साथ हुआ था।

वह उसमें अनुरक्त था। मद्यपान में भी आसक्त था और जुआं में भी फंसा हुआ था। इस भांति मत्त रहकर उसने बहुत सा काल व्यतीत किया। इस भांति राजा के प्रमत्त हो जाने पर राज्य नष्ट होने लगा। यह देख राज्य के बड़े-बड़े मनुष्यों ने तथा मंत्रियों ने सलाह करके पुत्र को गादी पर बैठा कर, मद्य पीकर सोये हुए राजा को रानी सहित अपने मनुष्यों द्वारा उठवाकर अरण्य में छोड़ दिया। और उसके चेलांचल में पुनः वहां न आने

की सूचन देने वाला लेख बांध दिया। अब प्रातःकाल उठकर ज्योंही वह दिशाएं देखने लगा तो चारों ओर उसने सिंह, हरिण, भयंकर बाघों से भरा हुआ वन देखा, तथा उक्त लेख देखा जिससे वह उदास हो कर रानी को इस भांति कहने लगा।

हे सुतनु! अपन जिनको प्रसन्न रखते, खूब दानमान देते, सदैव भारी कृपाओं से अनुग्रहीत करते, अपराध में भी जिनकी ओर मीठी दृष्टि से देखते, जिनका रहस्य अप्रकट रखते तथा संदेहपूर्ण कार्यों में जिनकी सलाह लेते थे। उन धूर्त सामंत और मंत्रियों की कार्यवाही देख! इस भांति राजा दैवकोप हुआ न मानकर बक - बक करने लगा। तब बंधुमति ने युक्तिपूर्वक कहा कि—

हे स्वामिन्! सकल पुरुषाकार को विफल करने वाले और अघटित घटना घड़ने की इच्छा करने वाले दुर्दैव ही का यह काम है। इसलिये इसकी चिंता करना व्यर्थ है। हे स्वामी! उदास मत हो ओ। चलो! हम ताम्रलिप्ती नगरी में चलकर नरसुन्दर राजा को प्रीति से मिलें। राजा ने यह बात स्वीकार की। पश्चात् वे चलते-चलते क्रमशः ताम्रलिप्ती के समीपस्थ उद्यान में आ पहुँचे। अब बंधुमति कहने लगी कि—हे स्वामिन्! आप यहीं पर थोड़ी देर बैठिये, ताकि मैं जाकर मेरे भाई को आपके आगमन का समाचार दे आऊं। किसी प्रकार राजा के हां करने पर बंधुमति अपने पर भारी ममता बताने वाले भाई के घर आ पहुँची।

वहां उसने महान् सामंतों से सेवित, पास में खड़ी हुई वीरांगनाओं से विंजायमान और सेवकों से जय जयकार द्वारा प्रत्येक वाक्य से वधाया जाता हुआ सिंहासन पर बैठा हुआ नरसुन्दर

देखा। अब उसने भी एकाएक अतिथि को आई देख, शिष्टता की उचित सत्कार करके उसका सकल वृत्तान्त पूछा। तब उसने सब कह सुनाया और कहा कि—राजा उद्यान में है। तब नरसुन्दर राजा शीघ्र ही बड़ा धूमधाम से उसके सन्मुख रवाना हुआ।

इधर अवंतिनाथ अति तीक्ष्ण भूख से पीड़ित होकर चीभड़ा खाने के लिये एक चीभड़े के वाड़े में चोर के समान पीछे के दरवाजे से घुसा, तो उस वाड़े के स्वामी ने उसे मूठ और काठी से मर्म-प्रदेश में मारा। तब वह तीव्र प्रहार से घायल होकर वहां से झट भागता हुआ भूमि पर काष्ठ के पुतले के समान निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा।

इधर नरसुन्दर राजा भी अपने विजय-रथ पर आरूढ़ होकर बहनोई के सन्मुख उक्त स्थान पर आ पहुँचा, किन्तु तरल घोड़ों के तीव्र खुरों से उड़ी हुई धूल के कारण उस समय आकाश में मानों घना अंधकार छाया हो, वैसा दिखाव हो गया। तब कुछ भी न दीखने से राजा के रथ के पहिये की तीक्ष्ण धार से मार्ग में (अचेत) पड़े हुए अवन्तिनाथ का सिर कट कर धड़ से अलग हो गया।

अब नरसुन्दर राजा ने पूर्वोक्त उद्यान में अवन्तिनाथ को न देखकर संभ्रांत हो, यह वृत्तांत अपनी बहिन को कहला भेजा। तब हा दैव! हा दैव! यह क्या हुआ, यह सोचकर संभ्रम से आंखें फिराती हुई बंधुमति भाई की वाणी सुनकर वहां आकर गुमा हुआ रत्न देखा जाता है, उस तरह बारीक दृष्टि से देखने लगी, तो उक्त अवस्था को पहुंचा हुआ अपना पति उसने देखा, परन्तु वह उसे मरा हुआ देखकर मानो मुद्गल से आहत हुई हो उस भांति तुरंत मूर्छा से आंखे बन्द कर भूमि पर गिर पड़ी। वह

साथ में रहे हुए परिजनों के शीतोपचार करने से सचेत हुई। तब चिल्लाकर व्याकुल हो इस भांति विलाप करने लगी।

हे हृदय के हार प्रियतम, गुणसमूह के निवास, नमे हुए पर कृपा करने वाले! किस पापिष्ट ने आपको इस अवस्था में पहुँ-चाया है? हे नाथ! वियोग रूप वज्राग्नि से भेदते हुए मेरे हृदय को बचाओ। हे हृदय को सुख देने वाले! इतना विलंब क्यों करते हो? हे अभागे दैव! तूं ने राज्य हरण किया, देश छुड़ाया, हितेच्छुओं से अलग किया तो भी तूं संतुष्ट न हुआ। जिससे और भी हे पापिष्ट! तूं ने यह काम किया।

इस प्रकार विलाप करती हुई भाई के मना करने पर भी वह अपने पति के साथ प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ी।

अब नरसुन्दर राजा निर्वेद (वैराग्य) पाकर चिन्तवन करने लगा कि–जगत् की स्थिति कैसी अचिंत्य और अनित्य है? जो सुखी होता है, वही क्षण भर में दुःखी हो जाता है। राजा रंक हो जाता है। मित्र होता है सो शत्रु बन जाता है और संपत्ति विपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। किस प्रकार अभी दीर्घ काल में बहिन से समागम हुआ और किस प्रकार पीछा अभी ही वियोग हो गया? अतः संसारवास को धिक्कार हो ओ।

तीर्थंकर जो कि वास्तव में तीनों भवन के लोगों को प्रलय से बचाने में समर्थ होते हैं, उनको भी अनित्यता निगल जाती है। अफसोस! अफसोस! रण में सन्मुख खड़े हुए, उद्भट, लड़ते हुए दुश्मन सुभटों के चक्र को हराने में समर्थ चक्रवर्त्ती भी क्षण-भर में मर जाते हैं। तथा महान् भुजबली बलदेव के साथ मिल-कर चालाक प्रतिपक्षी का चूर-चूर करते हैं, ऐसे हरि (वासुदेव)

को भी कृतान्त रूप हरि (सिंह) हरिण के समान हर ले जाता है । मुझे ऐसा जान पड़ता है कि—लोगों के प्राण, इन्द्रधनुष और विद्युत की चपलता के द्वारा से मानो सम्पूर्ण बनाये गये हैं, इसी से ये क्षण दृष्टनष्ट हैं ।

ऐसे संसार में जो परमार्थ जानकर भी विश्वस्त (भोले) हो कर, अपने घरों में क्षणमात्र भी रहते हैं, उनकी कितनी भारी धृष्टता है ? इस भांति उसने विरक्त होकर धनादिक में संबद्ध होते भी भाव से अप्रतिबद्ध हो, घर रहकर कुछ दिन व्यतीत किये ।

उसने समय पर राज्य का भार उठाने में समर्थ पुत्र को राज्य सौंप कर श्रीषेण गुरु से दीक्षा ग्रहण की अब वह द्रव्य से वस्त्रादिक में, क्षेत्र से ग्रामादिक में, काल से समयादिक में, भाव से क्रोध, मान, माया, लोभ में प्रतिबंध छोड़कर अनशन करके मन में जिन-शासन को धारण करता हुआ, शरीर में भी अप्रतिबद्ध होकर, मर कर ग्रैवेयक देवता हुआ । वहां से उत्तरोत्तर कितनेक भव तक सुरनर की लक्ष्मी का अनुभव करके प्रव्रज्या ले उसने परमपद प्राप्त किया ।

इस प्रकार नरसुन्दर का चरित्र सुनकर हे भव्यों ! जो तुम किसी भारी कारण के योग से शीघ्र दीक्षा लेने में समर्थ न हो सको तो द्रव्य से देह, गेह विषय तथा द्रव्यादिक में सम्बद्ध रहते भी उनमें भाव से भारी प्रतिबंध मत करो ।

इस भांति नरसुन्दर की कथा पूर्ण हुई ।

इस भांति सत्रह भेदों में असंबद्धरूप पन्द्रहवां भेद कहा । अब परार्थ कामोपभोगी रूप सोलहवाँ भेद कहने को कहते हैं—

संसारविरत्तमणो भोगुवभोगो न तित्तिहेउत्ति ।
नाउं पराणुरोहा पवत्तए कामभोएसु ॥ ७५ ॥

मूल का अर्थ— संसार से विरक्त मन रखकर भोगोपभोग से तृप्ति नहीं होती, यह जानकर कामभोग में परानुवृत्ति से प्रवृत्त होवे।

टीका का अर्थ— यह संसार अनेक दुःखों का आश्रय है। यथा— 'प्रथम दुःख गर्भावास में माता की कुक्षी में रहने का होता है, पश्चात् बाल्यकाल में मलीन शरीर वाली माता के स्तन का दूध पीने आदि का दुःख रहता है, तदनन्तर यौवन में विरह जनित दुःख रहता है और वृद्धावस्था तो असार ही है। इसलिए हे मनुष्यों! संसार में जो थोड़ा कुछ भी सुख हो तो कह बताओ?' इसीसे वे संसार से विरक्त मन रखते हैं।

भोगोपभोग ये हैं कि— जो एक बार भोगा जाय सो भोग। जैसे कि— आहार, फूल आदि और बार-बार भोगे जाय सो उपभोग। जैसे कि— गृह, शय्या आदि। इस प्रकार आगम में वर्णित भोगोपभोग प्राणियों को तृप्ति के हेतु नहीं हैं, यह समझ कर परानुरोध से अर्थात् पर की दाक्षिण्यता से गंध, रस, स्पर्श में भावश्रावक प्रवृत्त होवे। पृथ्वीचन्द्र राजा के समान।

पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र इस प्रकार है —

यहां सैकड़ों उपाध्यायों से निरन्तर भूषित अयोध्या नामक नगरी थी। वहां न्यायवन्तों में प्रथम मान्य हरीसिंह नामक राजा था। उसकी नेत्रों के विलास से पद्म को जीतने वाली पद्मावती नामक रानी थी और चन्द्र समान उज्वल यश वाला पृथ्वीचन्द्र नामक पुत्र था।

इस दुनिया में राजपुत्रों ने नव-यौवन के प्रारम्भ में भोगी होना और दुश्मनों को जीतने के लिए कठिन उद्यम करना, यह कहा जाता है। किन्तु यह कुमार तो मुनिवर के सदृश शास्त्रचिंतन में तत्पर होकर शान्त ही रहता है। अतएव जो पराक्रम-हीन हो जावेगा तो बागियों से पराजित हो जावेगा। इसलिये अब ऐसा करूं कि- इसका विवाह कर दूं, ताकि आपही आप उनके वश में होकर सब कुछ करेगा। क्योंकि कहा जाता है कि:—जब तक छेक (चालाक) रहता है, तब तक मानी, धर्मी, सरल और सौम्य रहता है, जहां तक मनुष्य को स्त्रियों ने घर के नट के समान भमाया न हो।

यह सोचकर राजा ने प्रीति से कुमार को विवाह करने के लिये कहा। तब उसने इच्छा न होते भी पिता के अनुरोध से वह बात स्वीकार की। पश्चात् कुमार का समकाल ही में बड़े - बड़े सरदारों के वंश में जन्मी हुई आठ कन्याओं से पाणिग्रहण कराता है।

अब विवाह महोत्सव प्रारम्भ होते ही मंगल बाजे बजने लगे। तरुण स्त्रियां नाचने लगी। लोग हर्षित होने लगे।। उस समय पृथ्वीचन्द्र कुमार काम को जीत, विवेक गुण धारणकर मध्यस्थ मन रखकर के श्रमण के समान अरक्तद्विष्ट रहा। वह सोचने लगा कि-अहो! मोह महाराजा का यह कैसा विलास है कि जिससे तत्त्व को बिना जाने ये लोग व्यर्थ के विवाद में पड़ते हैं।

(वास्तव में) गीत विलाप है। नृत्य शरीर को परिश्रम रूप है। अलंकार भार रूप हैं और भोगोपभोग क्लेश करने वाले हैं। जिसमें माता पिता का मोह देखो कि- जो थोड़े दिनों से साथ बसे हुए मुझे काम के हेतु अत्यन्त तीव्र स्नेह के कारण इस प्रकार हैरान होते हैं। केल के गर्भ समान इस असार संसार में जिन सिद्धान्त के तत्त्व को जानने वाले जीवों को क्षण भर भी रमण करना उचित नहीं।

यद्यपि इस विषय में मेरे माता पिता का अतिनिविड़ आग्रह है और उनको मेरे पर इतना भारी स्नेह है कि- वे क्षणभर भी मेरा विरह नहीं सह सकते। तथा प्रेम से परवश हुई इन बालाओं को विवाह करके अभी छोड़ देने से वे मोहवश दुःखी होती हैं। वैसे ही अभी दीक्षा लूं तो मोह वश दूसरे लोग भी मेरी निन्दा करें, अतएव माता पिता के अनुरोध से मैं कैसे संकट में पड़ा हूँ? तो भी कुछ हानि नहीं, क्योंकि-अभी जो इनका पाणिग्रहण करूंगा तो, समय पर लघुकर्म से सब दीक्षा भी लेंगी।

यदि जो माता पिता को जिनमत में प्रतिबोधित कर मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूं तो, इन सब का निश्चय बदला चुक जाय। यह सोच दिवस के काम पूरे कर स्त्रियों के साथ रतिगृह में उचित स्थान पर बैठकर इस प्रकार बातचीत करने लगा।

इस संसार में काम-भोग विष के समान मुंह में मीठे परिणाम में दारुण फल देते हैं। शिवनगर के द्वार में किवाड़ समान हैं। तीव्र और लक्ष दुःख रूप दावाग्नि को में ईंधन समान हैं, और धर्मरूप झाड़ को उखाड़ने के लि के वेग के समान हैं।

इस अनादि संसार में जीव ने आहार तथा अलंकार जिनका उपयोग किया है। वे एक स्थान में एकत्र किये जावें पर्वतों सहित पृथ्वी से भी बढ़ जावें। तथा इस प्राणी ने पूर्व में जो इच्छानुसार पानी पिये हैं, वे अभी विद्यमान हों तो उ बराबर समस्त समुद्रों का पानी भी नहीं। तथा प्राणी ने पूर्व फूल, फल तथा दल, जिन-जिन का उपयोग किया है, उस वर्तमान में तीनों लोकों में स्थित वृक्षों में भी नहीं मि सकते।

देवपन में शुचि व सुन्दर देवांगनाओं के शरीरादिक वे सागरोपम व पल्योपम तक उत्तम भोग भोगकर मनुष्य स्त्रियों के अशुचि पूर्ण शरीर में जो मोहित होते हैं। उससे मैं मानता हूँ कि–रिष्ट के समान भोग भोगे हुँए होते भी तृप्त नहीं होते इसलिये तुम प्रतिबोध पाकर समझो, और भोग में परवश मन रखकर इस दुस्तर और अपार संसार सागर में दुःखी होकर मत भटको।

इस प्रकार कुमार का वचन सुनकर वे राज–पुत्रियां प्रतिबोध पा, विषय से विरक्त हो, अंजली जोड़ कर बोलीं कि– हे स्वामिन्! आपने कहा सो सत्य है। परन्तु विषयों को छोड़ने का क्या उपाय है सो कहिये। तब कुमार कहने लगा। उपाय यह है कि–सुगुरु की वाणी से निष्कलंक चारित्र पालना। तब

वे बोलीं कि–हे स्वामिन् ! हमको दीक्षा लेने के लिये शीघ्र आज्ञा दीजिए। हम आपकी स्त्रियां कहलाईं। इतने ही से हम यहां कृतार्थ हो गई हैं। अब गृहवास में तो एक क्षण भी रहते सुख नहीं मिलता।

तब कुमार प्रसन्न होकर बोला कि–तुम्हारे समान विवेक-वाली स्त्रियों को ऐसा ही करना योग्य है। तथापि अभी समाधि में रहकर गुरु के आने की राह देखो। समय पर मैं भी ऐसा ही करूंगा। तब उन्होंने यह बात मान ली।

अब परिजनों के मुख से यह बात हरिसिंह राजा ने जानी। तब उसने विचार किया कि–यह कुमार तो स्त्री वश नहीं हुआ किन्तु उसने उनको चारित्र लेने को तैयार कर ली हैं। जिससे उसने विचार किया कि–अब इसे प्रेमपूर्वक कह कर राज्य संचा-लन के कार्य में रोकूं, ताकि उसमें व्याकुल होकर यह धर्म की बात को भी भूल जावेगा। यह निश्चय करके उसने कुमार को राज्य लेने के लिये बहुत कहा। वह भी दाक्षिण्यतावान् होने से पिता का वचन टाल नहीं सका।

यह सोचने लगा कि–समुद्र में जाने की इच्छा करने वाले को हिमवत् पर्वत के साम्हने जाना विरुद्ध लगता है, वैसे ही तप करने को तैयार होने वाले को राज्य संचालन का कार्य विरुद्ध ही है, किन्तु इस विषय में पिताजी का भारी आग्रह दीखता है। वैसे ही गुरु–जन दुष्प्रतिकार होने से चतुर मनुष्यों ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये, तथा (अभी मैं वश में न होऊं तो) फिर भी ये ऐसा ही मांगनी करेंगे। साथ ही मुझे भी धर्माचार्य आवें तब तक निश्चयतः राह देखना है।

इसलिये अभी मुझे परम प्रीति से पिता का वचन मानना चाहिये। यह सोचकर कुमार ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की

अब पृथ्वीचन्द्र कुमार को सकल सामंत व मन्त्रियों के साथ राजा राज्याभिषिक्त करके कृतकृत्य हुआ। कुमार राजा राज्य-लक्ष्मी से लेश मात्र भी प्रसन्न न हुआ, तथापि पिता के आग्रह से उचित प्रवृत्ति करने लगा। उसने राज्य में से व्यसन दूर किये, कैदखाने छोड़ दिये और अपने सारे मंडल में अमारीपड़ह बज-वाया। उसने प्रायः समस्त लोगों को जिनशासन में अतिभक्त किये। सत्य कहा है कि-जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है।

एक समय वह सभा में बैठा था। इतने में द्वारपाल ने कहा कि-हे देव! देशांतरवासी कोई सुधन नामक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है। राजा ने कहा कि-अन्दर भेजो। तदनुसार उसने सुधन को अन्दर भेजा। वह राजा को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया।

राजा ने कहा कि, हे सेठ बोलो! तुम यहां कहां से आये हो, तथा पृथ्वी में फिरते हुए तुमने कहीं आश्चर्य जनक बात देखी है क्या? सेठ बोला कि, हे स्वामिन् मैं गजपुर नगर से यहां आया हूँ और सारे जगत् को विस्मय उत्पन्न करने वाला एक आश्चर्य भी देखा है। वह इस प्रकार है-

गजपुर नगर में बहुत से रत्नों वाला रत्नसंचय नामक सेठ था। उसकी सुमंगला नामक भार्या थी, और गुणसागर नामक पुत्र था। अब वह कुमार नवयौवनावस्था को प्राप्त हुआ। तब उसके लिये रत्नसंचय सेठ ने नगर सेठों की आठ कन्याएं मांगी।

बाद एक समय झरोखे में बैठे हुए गुणसागर ने राजमार्ग में भिक्षार्थ नगर में प्रवेश करते हुए एक मुनि को देखा। तब वह सोचने लगा कि–ऐसा रूप तो मैंने पहिले भी कहीं देखा है। यह सोचकर वह पूर्व में पालन किये हुए चारित्र वाले भव को स्मरण करने लगा। पश्चात् वह अति आग्रह से व्रत लेने के लिये माता पिता को पूछने लगा। तब उसकी माता खिन्न हो रोती हुई इस इस प्रकार कहने लगी–

हे वत्स ! यद्यपि तेरा चित्त क्षणभर भी घर में नहीं लगता तथापि तूं विवाह करके तेरा मुख बता कर हमारे हृदय को प्रसन्न कर। उसके बाद व्रत लेने में मैं कुछ भी रुकावट नहीं करुंगी। माता के इस प्रकार कहने पर उसने वह बात स्वीकार की।

अब रत्नसंचय सेठ ने सम्बन्धियों को कहलाया कि–विवाह करने के अनन्तर मेरा पुत्र शीघ्र ही दीक्षा लेने वाला है। यह सुन वे चिन्तातुर हो सलाह करने लगे। इतने में उनकी पुत्रियां बोली कि–हे पिताओं ! कन्याएं क्या दो बार दी जाती हैं ? अतएव हमारे तो वे ही पति हैं और वे जो करेंगे सो हम भी करेंगी। अगर वे हमारा पाणिग्रहण नहीं करेंगे, तो हम दूसरा वर कदापि नहीं करेंगी।

इस प्रकार पुत्रियों का वचन सुनकर उन सब सेठों ने प्रसन्न हो अपनी पुत्रियों को गुणसागर के साथ विवाह दी। विवाह महोत्सव प्रारम्भ होने पर अनेक धवल गीत गाये जाने लगे, और मनोहर नृत्य होने लगे। उसमें गुणसागर कुमार नाक पर दृष्टि रखकर, इन्द्रिय विकार रोक, एकाग्र मन करके सोचने लगा कि–श्रमण हो गया होता तो इस भांति श्रुत पढ़ता, इस भांति तप करता, इस भांति गुरु का विनय करता, इस भांति संयम में यत्न करता और इस भांति शुभ ध्यान धरता।

तब उसी समय वहाँ जयघोष के साथ पटह शब्द से आकाश को भरता हुआ तथा चमकते हुए कर्णकुण्डल वाला सुरमंडल एकत्रित हुआ। उन्होंने उसे लिंग दिया, व उक्त मुनिवर को नमन करके हर्षित हुए देवों ने केवलज्ञान की महामहिमा करी। यह आश्चर्य देख सुमंगला तथा रत्नसंचय सेठ भारी संवेग पाकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए तथा यह आश्चर्य देखकर श्री शेखर राजा सपरिवार वहां आकर मुनि को प्रणाम करके उनके सन्मुख बैठा। तथा स्वयं मैं भी यानवाहन तथा परिजन को आगे रवाना कर यहां आने को आतुर होते भी कौतुहल से वहां गया।

वहां उसने अपना चरित्र मुझे सुनाकर कहा कि- हे सुधन! तूं अयोध्या को जाने को आतुर होते भी यहां आया है। जिससे तुझे विचार होता है कि, साथ दूर होता जाता है और ऐसा आनन्द भी फिर मिलना दुर्लभ है, इससे न जा सकता और न

रह सकता। किन्तु यह आश्चर्य तेरे चित्त को किस हिसाब में आकर्षित करता है? तू वहाँ जावेगा तब इससे भी अधिक आश्चर्य देखेगा। इस भांति यथावत् श्रवण कर गुरु को नमन करके मैं यहाँ आया हूँ और अभी आश्चर्य करने वाले आपके पास उपस्थित हुआ हूँ।

यह सुन महान गुणानुराग के बल से पृथ्वीचन्द्र राजा आनंद-पूर्ण चित्त हो यह सोचने लगा कि-सचमुच में वह महानुभाव महामुनि गुण ही का सागर है कि-जिसने मोह का अनुबंध तोड़-कर देखो! अपना काम किस प्रकार सिद्ध किया? मोह की दृढ़ बेड़ियों को तोड़ने वाले भाग्यशाली पुरुषों को अत्यन्त उत्तम भोग सामग्री भी धर्म करने में अन्तराय नहीं कर सकती। अरे! मैं जानता हुआ इस राज्यरूप कूट-यंत्र में गुरुजन की दाक्षिण्यता के कारण सामान्य हाथी के समान फंस गया हूँ। कब मैं झपाटे से भोगोपभोग को छोड़ने वाले धर्मधुरंधर मुनियों की गिनती में गिना जाऊंगा?

कब मैं गुरु के चरणों में प्रणाम करके ज्ञान चारित्र का भाजन होऊंगा? कब मैं उपसर्ग और परिषहों की पीड़ाओं को भलीभाँति सहन करूंगा? इत्यादिक सोचता हुआ वह महात्मा अपूर्व-करण के क्रम से शिव-पद पर चढ़ने को निश्रेणी समान क्षपक-श्रेणी पर चढ़ा। वहां शुक्लध्यान रूप घन से उसने क्षणभर में घनघाति कर्मों को तोड़कर उत्तम केवलज्ञान प्राप्त किया। अब वहां सौधर्मपति आकर, उसे द्रव्यलिंग देकर, चरणों में नमन कर केवल महिमा करने लगा।

यह देख राजा हरिसिंह पद्मावती के साथ, यह क्या हुआ? यह क्या हुआ? इस प्रकार बोलता हुआ वहाँ आ पहुँचा। तथा

अब सुधन सार्थवाह मुनीश्वर को नमन करके पूछने लगा कि–आपकी और गुणसागर की इतनी समान गुणना (समानता) क्यों लगती है ? तब मुनींद्र बोले कि–वह पूर्वभव में कुसुमकेतु नामक मेरा पुत्र था, और उसने मेरे साथ ही प्रव्रज्या ली थी। वह मेरे ही समान धर्माचरण करके कर्मक्षय कर देवभव भोगकर वह कुसुमकेतु देव हे सुन्दर ! यह गुणसागर हुआ है।

इस प्रकार सम परिणाम से हमने शुभानुबंधि पुण्य संचित किया। वह समान सुखपरम्परा से हमको अभी फलित हुआ है। ये वधूएँ भी पूर्वभव की स्त्रियां हैं। वे संयम पाल कर अणुत्तर-विमान में वस कर पुण्ययोग से हमारी स्त्रियां हुई व भवितव्यता के बल से सामग्री मिलते केवलज्ञान को पाई हैं।

यह सुन सुधन प्रतिबोध पाकर सुश्रावक हुआ। वैसे ही वहां दूसरे भी बहुत से लोग भली भांति चारित्र लेने को तैयार हुए। पश्चात् इन्द्र ने हरिसिंह राजा के हरिषेण नामक पुत्र को राज्य पर स्थापित किया। और पृथ्वीचन्द्र ऋषि भी चिरकाल तक विचर करके मोक्ष को पहुँचे।

इस भांति पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र भलीभांति सुनकर हे भव्यलोकों! तुम दीक्षा लेना चाहते हुए भी पिता, भाई, स्वजन, स्त्री आदि लोगों के उपरोध से गृह-वास में रहते हुए भी काम-भोग में आसक्ति छोड़ो।

इस प्रकार पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में परार्थकामभोगी रूप सोलहवां भेद कहा। अब वेश्या के समान निराशंस होकर गृहवास पाले, तद्रूप सत्रहवें भेद का वर्णन करते हैं।

वेसव्व निरासंसो अज्जं कल्लं चयामि चिंतंतो।
परकीयंपिव पालइ गेहावासं सिढिलभावो ॥७६॥

मूल का अर्थ--वेश्या के समान निराशंस रहकर आजकल में छोड़ दूंगा। यह सोचता रह कर गृहवास को पराया हो, वैसा जानकर शिथिल भाव से पाले।

टीका का अर्थ—वेश्या के समान निराशंस याने आस्था बुद्धि से रहित होकर अर्थात् जैसे वेश्या निर्धन-कामियों से अधिक लाभ होना असंभव मान कर थोड़ा सा लाभ प्राप्त करती हुई "आज वा कल इसे छोड़ना है" ऐसा विचार करके उसे मन्द

आदर से भोगती है। वैसे ही भाव-श्रावक भी आज या कल इ गृहवास को छोड़ना है, ऐसा मनोरथ रखकर, मानो यह पराय हो, उस तरह उसे पालता है। सारांश यह है कि-किसी कारण से उसे छोड़ न सकने पर भी मन्द आदर वाला रहे-क्यों वैसा पुरुष व्रत न ले, तो भी वसुसेठ के पुत्र सिद्धकुमार के सम कल्याण को प्राप्त करता है।

सिद्धकुमार की कथा इस प्रकार है।

यहां पर्वत की पीली भूमि के समान सुकनका (श्रेष्ठ स्वर्ण भरपूर) और सुप्रभा (शोभायमान) नगरी नामक नगरी थी। व सदैव पूर्वभाषी वसु नामक सेठ था। उसके विनयवन्त सेन उ सिद्ध नामक दो पुत्र थे। वे स्वभाव से शान्त, भोले, प्रियभा और धर्मानुरागी थे। सेन धर्म सुनकर शीलचन्द्र गुरु के प प्रव्रजित हुआ, किन्तु चरण करण में अत्यन्त प्रमादी हो गया।

दूसरा सिद्ध अपने वृद्ध माता पिता का पालन करने कारण दीक्षा न लेकर गृहवास में रहता हुआ भी शुद्ध मति निरन्तर इस प्रकार चिंतवन करने लगा। कब मैं अल्पारंभ कारण गृहवास को छोड़कर परमसुख की हेतु भूत सर्वज्ञ दीक्षा ग्रहण करूंगा ? कब मैं अपने अंग में भी निस्पृह होकर स संग त्याग करके गुरु के चरणों की सेवा करता हुआ मृगच चरूंगा।

कब मैं श्रेष्ठ उपधान धारण करके निर्दोष आचारांग प्रमु आगम शास्त्र को पढ़ूंगा ? कब मैं समिति, गुप्ति संपादन कर दुर्द्धर चारित्र पालूंगा ? और कब मेरे वक्षस्थल में (हृदय उपशम लक्ष्मी यथेष्ठ रीति से रमेगी ? कब मैं स्वर्ण के समान

आत्मा को महान् उज्वल तपचरण करण रूप अग्नि में डालकर सर्व मल से रहित करूंगा ? कब मैं द्रव्य भाव से संलेखना करके परभव में निरपेक्ष रहकर आराधना का आराधन करके प्राणत्याग करूंगा ? इस भांति उत्तम मनोरथ रूप विशाल रथ पर मन चढ़ा कर वह समय व्यतीत करता था। एक दिन सेन मुनि सिद्ध को देखने के लिये वहां आ पहुँचे। अब वे दोनों जिनश्रुत भावित मति से उत्पल के दल समान कोमल वाणी से परस्पर प्रेरणादि करके एक स्थान पर बैठे। इतने में कर्मयोग से उन पर बिजली पड़ी, जिससे दोनों मर गये। जिससे उनका पिता तथा परिजन बहुत दुःखी हो गये।

वहां एक समय युगंधर केवली पधारे। तब वसुसेठ ने उनको अपने लड़कों की गति पूछी। तब केवली भगवान् ने उसे कहा कि-सिध्द सौधर्म-देवलोक में गया है और सेन महर्द्धिक व्यंतर देवरूप से उत्पन्न हुआ है। कारण कि-सिद्ध को शुद्ध साधुत्व पालने की इच्छा थी और दूसरे ने साधुत्व ग्रहण करके विरक्तपन यथावत् नहीं पाला।

आदर से भोगती है। वैसे ही भाव-श्रावक भी आज या कल इस गृहवास को छोड़ना है, ऐसा मनोरथ रखकर, मानो वह पराया हो, उस तरह उसे पालता है। सारांश यह है कि-किसी भी कारण से उसे छोड़ न सकने पर भी मन्द आदर वाला रहे-क्योंकि वैसा पुरुष व्रत न ले, तो भी वसुसेठ के पुत्र सिद्धकुमार के समान कल्याण को प्राप्त करता है।

सिद्धकुमार की कथा इस प्रकार है।

यहां पर्वत की पीली भूमि के समान सुकनका (श्रेष्ठ स्वर्ण से भरपूर) और सुप्रभा (शोभायमान) तगरा नामक नगरी थी। वहां सदैव पूर्वभाषी वसु नामक सेठ था। उसके विनयवन्त सेन और सिद्ध नामक दो पुत्र थे। वे स्वभाव से शान्त, भोले, प्रियभाषी और धर्मानुरागी थे। सेन धर्म सुनकर शीलचन्द्र गुरु के पास प्रव्रजित हुआ, किन्तु चरण करण में अत्यन्त प्रमादी हो गया।

दूसरा सिद्ध अपने वृद्ध माता पिता का पालन करने के कारण दीक्षा न लेकर गृहवास में रहता हुआ भी शुद्ध मति से निरन्तर इस प्रकार चिंतवन करने लगा। कब मैं अल्पारंभ के कारण गृहवास को छोड़कर परमसुख की हेतु भूत सर्वज्ञ की दीक्षा ग्रहण करूंगा? कब मैं अपने अंग में भी निस्पृह होकर सर्व संग त्याग करके गुरु के चरणों की सेवा करता हुआ मृगचारी चरूंगा।

कब मैं श्रेष्ठ उपधान धारण करके निर्दोष आचारांग प्रमुख आगम शास्त्र को पढ़ूंगा? कब मैं समिति, गुप्ति संपादन करके दुर्द्धर चारित्र पालूंगा? और कब मेरे वक्षस्थल में (हृदय में) उपशम लक्ष्मी यथेष्ठ रीति से रमेगी? कब मैं स्वर्ण के समान मेरी

कहते हैं। ऐसा होवे सो द्रव्य साधु तो स्वयं आगम में ही कहा गया है। यथा—

सर्व शुद्ध नयों के हिसाव से अर्थात् निश्चय-नय के हिसाव से जैसे माटी का पिंड है, वह द्रव्य-घट माना जाता है, जैसे साधु है वह द्रव्यदेव माना जाता है वैसे ही सुश्रावक द्रव्य-साधु है।

इस प्रकार से श्री-देवेन्द्रसूरि विरचित
और
चारित्र गुण रूप महाराज के प्रसाद रूप
श्री धर्मरत्न की टीका का पीठाधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीय भाग सम्पूर्ण

गृह और गृहवास ये भी एक ही विषय हैं, इनमें कुछ भी भेद नहीं दीखता। इसलिये पुनरुक्त दोष क्यों न माना जाय ?

उसे यह उत्तर है कि– यह बात सत्य है किन्तु देशविरति विचित्र रूप होने से एक ही विषय में अनेक परिणाम रहते हैं तथा एक परिणाम के भी भिन्न-भिन्न विषय संभव हो सकते हैं, इसलिये सर्व भेदों का निषेध करने के हेतु विस्तार से कहने की आवश्यकता होने से यहां पुनरुक्तत्व नहीं माना जा सकता। ऐसा व्याख्यान की गाथाओं ही से बता चुके हैं। अतएव सूक्ष्मबुद्धि से विचार करके अन्य समाधान ठीक जान पड़े तो, वह भी कर लेना चाहिये।

इस प्रकार दृष्टान्त सहित भावश्रावक के सत्रहों भेदों का प्ररूपण किया। इससे विस्तार पूर्वक भावश्रावक के भावगत लिंग प्ररूपित हो गये हैं। अब इसका उपसंहार करते हुए दूसरा प्रस्ताव लागू करते हैं।

इय सतरसगुणजुत्तो, जिणागमे भावसावगो भणिओ।
एस उण कुसलजोगा, लहइ लहुँ भावसाहुत्तं ॥७७॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार सत्रह गुण सहित जिनागम में भावश्रावक कहा हुआ है और यह कुशल योग से शीघ्र ही भाव साधुत्व पाता है।

टीका का अर्थ—उपरोक्त प्रकार से सत्रह गुण युक्त जो होवे, वह जिनागम में भावश्रावक माना गया है, और ऐसा होवे तो, यहां पुनः शब्द विशेषणार्थ है। वह क्या विशेषता बतलाता है सो

कहते हैं। ऐसा होवे सो द्रव्य साधु तो स्वयं आगम में ही कहा गया है। यथा—

सर्व शुद्ध नयों के हिसाब से अर्थात् निश्चय-नय के हिसाब से जैसे माटी का पिंड है, वह द्रव्य-घट माना जाता है, जैसे साधु है वह द्रव्यदेव माना जाता है वैसे ही सुश्रावक द्रव्य-साधु है।

इस प्रकार से श्री-देवेन्द्रसूरि विरचित
और
चारित्र गुण रूप महाराज के प्रसाद रूप
श्री धर्मरत्न की टीका का पीठाधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीय भाग सम्पूर्ण